प्रकाशकीय

"परमेष्ठी-कृष्ण-रहस्य" और "चाक्षुष-कृष्ण-रहस्य" के बाद प्रकाशन के इसी क्रम में "प्रतिष्ठाकृष्ण" पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए बड़ा हर्ष होता है। कृष्ण-तत्त्व पर पं० मोतीलाल जी शास्त्री लिखित नौ विस्तृत निबन्धों की यह भी एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

प्रतिष्ठा-कृष्ण-रहस्य में प्रतिष्ठा को सृष्टि के एक मूल तत्त्व के रूप में स्थापित करते हुए तथा ब्रह्म को जगत् की प्रतिष्ठा बताते हुए मन को 'श्वोवसीयस ब्रह्म' और 'निष्कल पुरुष' कहा गया है। प्रतिष्ठा से इन सृष्टि–तत्त्वों के अन्तःसम्बन्धों को सूक्ष्म विवेचन के साथ ही मन के स्वरूप, उसकी व्याप्ति एवं व्यापार का अन्तर्दृष्टि-मूलक निरूपण प्रस्तुत निबन्ध की विशिष्टता है।

प्रतिष्ठा-कृष्ण-रहस्य को पढ़ने के बाद मन के बारे में अनेक भ्रान्तियाँ दूर हो कर हमारी धारणाएँ अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। यह भी भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि प्रतिष्ठा के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है क्यों कि प्रतिष्ठा ही अस्तित्वमात्र का आधार है।

शीघ्र ही कृष्ण–तत्त्व के सम्बन्ध में शास्त्रीजी के अन्य ग्रंथ भी प्रकाशित किये जाएँगे। आशा है, पाठक इन निबन्धों के माध्यम से वेद–विज्ञान के अनेक गूढ़ रहस्यों से अवगत होंगे।

डॉ० मदनगोपाल शर्मा (सेवा–निवृत्त एसोसिएट प्रोफेसर, राजस्थान विश्वविद्यालय) ने शास्त्रीजी के मूल ग्रंथ का प्रतिलिप्यंकन एवं पाठ-सम्पादन कर प्रेस कॉपी तैयार की है एवं सन्दर्भ–शोधन में श्लाघनीय योगदान किया है, जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। मूल संस्कृत उद्धरणों के प्रामाणिक पाठ तथा सन्दर्भ–निर्धारण का कार्य सम्पन्न करने के लिए हम डॉ० रामकुमार आचार्य के आभारी हैं।

स्व० शास्त्री जी के सुपौत्र श्री प्रद्युम्न कुमार शर्म्मा इस अमूल्य ग्रंथ निधि के मुद्रण कार्य में जिस निष्ठा एवं तत्परता से प्रवृत्त हैं तथा प्रकाशन-योजना में जो सुरुचिपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं, उसके लिए वे हार्दिक शुभाशंसाओं के सत्पात्र हैं। इस पुनीत कार्य में वे सफल हों, इन्हीं कामनाओं के साथ—

कर्पूरचन्द्र 'कुलिश'

महाशिवरात्रि-पर्व,
फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी,
वि० सं० २०४४

॥ श्रीः ॥

प्रतिष्ठा कृष्ण रहस्य

प्रथमजं देव हविषा विधेम स्वयम्भु ब्रह्म परमं तपो यत् ।
स एष पुत्रः स पिता स माता तपो ह यज्ञं प्रथमं संबभूव ॥

सबसे प्रथम पूर्वोक्त कृष्णतत्त्वों में से हम "**प्रतिष्ठाकृष्ण**" का ही स्वरूप बतलाएँगे। श्रुति कहती है—"**ब्रह्मं वास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम् ।**" इसका तात्पर्य यही है कि ब्रह्म संसार के यच्चयावत् पदार्थों की प्रतिष्ठा है एवं ब्रह्म ही सबसे प्रथमज है। सबसे पहले ब्रह्म ही उत्पन्न होता है। इस ब्रह्म शब्द से प्रतिष्ठा तत्त्व ही अभिप्रेत है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में हम जो एक ठहराव देख रहे हैं, उसी का नाम प्रतिष्ठा ब्रह्म है। यह प्रतिष्ठा ब्रह्म तारतम्येन पदार्थों में रहता है। किसी में प्रतिष्ठा तत्त्व अतिमात्रा में रहता है, किसी में अत्यल्पमात्रा में रहता है। विद्युत्, कर्पूर, शब्द, मेघ, इत्यादि पदार्थों में प्रतिष्ठा है अवश्य, परन्तु अल्पमात्रा में। बिजली चमकी और गायब। जिसमें इन्द्र की मात्रा अधिक होती है, उसमें प्रतिष्ठा कम होती है। इन्द्र विक्षेपण शक्ति का नाम है। इस इन्द्र की जो विशेषणधर्म्मा शक्ति है, उसी को "**शचि**" कहते हैं। इस इन्द्रशचि को ही पाश्चात्य वैज्ञानिक जगत् में "**ईथर**" नाम से पुकारा जाता है। यह ईथर अर्थात् इन्द्रशक्ति सारे ब्रह्माण्ड में (रोदसीय) व्याप्त हो रही है। एक बिन्दु भी ईथर से शून्य नहीं है, अतएव—

"**नेन्द्राहते पवते धामकिञ्चन्**" यह कहा जाता है। यह इन्द्र कुल १४ काम करता है। इसलिए १४ इन्द्र मान लिये जाते हैं। हमारे शरीर में जो विज्ञानात्मा है, जो कि चिदनुगृहीत सौर प्राणघन है, वह सूर्य्यस्थ, इसी इन्द्र प्राण की महिमा है। विज्ञान ही नहीं अपितु प्रज्ञानात्मा का स्वरूप भी इसी इन्द्र से बनता है। ब्राह्मणस्पत्य चिदनुगृहीत सोम में—जो कि चिदनुग्रह से

"मन" कहलाने लगता है—जब चिदनुगृहीत सौर प्राण का, अर्थात् इन्द्र का, सम्बन्ध हो जाता है, तभी वह मन "प्रज्ञानात्मा" नाम से व्यवहृत होता है। प्रज्ञान की स्थिति इन्द्रप्राण से ही, अर्थात् विज्ञान से ही है। इसलिए "स वा एव प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः" यह कहा जाता है। चूंकि इन्द्र ही आत्मा का अधिष्ठाता है अतएव श्रुति कहती है—

स होवाच मामेव विजानीहि। एतदेवाहं। मनुष्याय हिततमं मन्ये–यन्मां विजानीयात्। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। (कौ० ३।१)

सौर प्राण इन्द्र ही हमारे आत्मा के अधिष्ठाता हैं, अतएव "**सूर्य–आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**" यह कहा जाता है। यह प्राण जिसे कि हम प्रज्ञानात्मा कहेंगे, चक्षु आदि सारे विवरों में हो कर बाहर निकलता है, अतएव उन विवरों को इन्द्र सम्बन्धेन "**इन्द्रिय**" शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यही प्राण पदार्थों पर शासन करता है, उन्हें प्रदीप्त रखता है, अतएव "**य इन्धे य ईष्टे**" इस व्युत्पत्ति से इस प्राण को इन्द्र कहा जाता है। बस पहला यही आत्मेन्द्र है।

दूसरा काम है इस इन्द्र का–सत्य। सत्य कहते हैं नियति को। प्रत्येक पदार्थ में जो एक नियति दिखलाई पड़ती है, जिस नियति से कि संसार के यच्चयावत् पदार्थ आक्रान्त हैं, वह यही सत्य अन्तर्य्यामी इन्द्र है। नियति के आधार पर ही सारा विश्व अवलम्बित है। पानी सदा नीचे ही गिरता है, अग्नि सदा ऊपर की ओर ही जाता है, वायु सदा तिर्य्यक् ही चलता है, मनुष्य के मस्तक पर सींग होते ही नहीं हैं, गाय–बैलों के सींग अवश्य ही होते हैं–ये जो सत्य नियम हैं, जिनका कि कभी विरोध नहीं होता, इसी क्रम का नाम "नियतिचर" है। इसी नियतिचर को आजकल "**नेचर**" कहा जाता है। बस, यह जो नेचर सत्य है, नियतिः सत्य है, जो कि प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में बैठा हुआ उसका संचालन करता रहता है, उसी का नाम इन्द्र है। अन्तर्य्यामी सत्य को ही सत्य इन्द्र कहते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र इत्यादि यच्चयावत् पदार्थों का अन्तर्यमन करने वाला जो इन्द्र प्राण है, उसी का नाम "**सत्य इन्द्र**" है। वही द्रष्टा है, वही श्रोता है,

वही विज्ञाता है, वही मन्ता है। वह अन्तर्य्यामी सत्य ही सब कुछ है, जैसा कि श्रुति कहती है—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधामि अन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् । सजूर्देवेभिरवरैः (मर्त्यैः) परैश्च (अमृतैश्च) अन्तर्य्यामे मघवन् मादयस्व।। (यजु० ७।५)

इसी अन्तर्य्यामी इन्द्र के लिए—"**सत्यं हीन्द्रः**" (कौ०३) यह कहा जाता है। यही इन्द्र प्रज्ञा स्वरूप है। यही इन्द्र प्राण स्वरूप है। इसीलिए तो "**प्राणोऽस्मि**" प्रज्ञात्मा—यह कहा जाता है, एवं यह जो प्रकाश दीख रहा है, वह भी इसी इन्द्र का है। ताप, अग्नि का धर्म्म है, प्रकाश इन्द्र का धर्म्म है। सूर्य ही से तो प्रकाश होता है। सूर्य के इस प्रकाशी प्राण ही का नाम तो इन्द्र है। अतएव इस इन्द्र को "**ज्योतिरिन्द्र**" भी कहा जाता है एवं आयु के अधिष्ठाता भी यही इन्द्र हैं। जब तक सौर प्राण शरीर में आता रहता है तभी तक आयु की स्थिति रहती है। सौर प्राण ही का नाम इन्द्र है। अतएव हम अवश्य ही इन्द्र को आयु कह सकते हैं। इसीलिए "**तं मामायुरमृतमित्युपास्व**" (कौ० ३) कहा जाता है। इन्द्र नाम है उत्साह का। हमारे शरीर में जो एक प्रकार की स्फूर्ति देखी जाती है, वह भी इसी इन्द्र की महिमा है। दिन के अधिष्ठाता सूर्य हैं एवं सूर्य प्राण का नाम ही इन्द्र है। इसीलिए "**ऐन्द्रमहः**" यह कहा जाता है। प्रातःकाल होते ही सूर्य के अर्थात् इन्द्र के, शरीर में प्रविष्ट हो जाने से तबियत में नया उत्साह पैदा हो जाता है। अतएव हम इन्द्र को उत्साह कहने के लिए तैयार हैं। ८ वाँ इन्द्र है विद्युत्। बिजली सूर्य से ही उत्पन्न होती है। सूर्य प्राण का नाम ही इन्द्र है। "**यद्विद्युदाव्यद्युतदा**" यह कहा जाता है। ९ वाँ बल है इन्द्र। संसार में जो बल का सीगा (विभाग—सं०) है, उसके अधिष्ठाता यही इन्द्र हैं। इसीलिए—

"**याचकाच बलकृतिरिन्द्र कर्म्म एवतत्**" (या. नि.) यह कहा जाता है। १० वाँ इन्द्र है—"**वाक्**"। यह वाक् सत्या, परमेष्ठिनी, बृहती और अनुष्टुप भेदेन चार प्रकार की है। इनमें जो बृहती वाक् है, वह ऐन्द्रीवाक् कहलाती है। अ-आ-इ-ई स्वरूपयुक्ता जो स्वर वाक् है, उसी को बृहती वाक् कहते हैं। इसके अधिष्ठाता बृहती छन्द पर स्थिर रूप से तपने वाले सौर

प्राणघन यही इन्द्र हैं। बृहती वाक् सदा इस इन्द्र से युक्त रहती है, अतएव इसे इन्द्रपत्नी कहा जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सानो हवं जुषतामिन्द्र पत्नी ।।

इसीलिए श्रुति में बारम्बार "**वागिन्द्रः**" "**वागिन्द्रः**" लिखा रहता है। ११ वाँ इन्द्र है आकाश। इसी का नाम ईथर है। १२ वाँ इन्द्र है श्वा। इस आकाश में, जिसे कि शून्य स्थान कहते हैं, रहने वाला जो इन्द्र है, उसी का नाम श्वा इन्द्र है। शुनासीर्य्य याग इसी शुन इन्द्र के लिए किया जाता है। जो स्थान शुन के लिए हितकर होता है, उसे शून्य कहते हैं। **शुनेहितं-शून्यम्।** शून्य का पोल अर्थ नहीं है, अपितु जिसमें शुन नाम का इन्द्र प्राण–ईथर भरा रहता है, उसका नाम शून्य है। इसी शुन इन्द्र को श्वाइन्द्र भी कहते हैं। यही हमारा इन्द्र है। इसी के लिए कहा जाता है—"**शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरेनृत्तमं वाजसातौ।**" इति ।। जैसे सुन्दर का सुत्तर बन जाता है, एवं सुत्तर का सुथरा बन जाता है, ठीक इसी प्रकार इन्द्र का इन्दर बना है, इन्दर का इत्थर बना है एवं इत्थर ही का बिगड़ते-बिगड़ते आज "**ईथर**" हो गया है।

१३ वाँ इन्द्र है—रूप इन्द्र। संसार में जो रूप दिखलाई पड़ता है, उसका अधिष्ठाता यही प्रज्ञा इन्द्र है, जिसे कि प्रज्ञामन भी कहा जाता है। मन ही का नाम इन्द्र है। मन ही तो रूपाकार में परिणत होता है। मन के परिणाम विशेष ही का नाम तो रूप है। मन जिस पर एक दफ़ा दौड़ जाता है, बार-बार उसी पर दौड़ा करता है। एक दफ़ा यदि नाटक देख लिया जाता है, तो बार-बार नाटक देखने की इच्छा होती है। मन ही का नाम इन्द्र है। चूंकि यह बार-बार उसी स्थान पर जाया करता है, इसीलिए इसे ओकःसारी कहा जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—"**ओकः सारी वा इन्द्रः यत्र वा इन्द्रः पूर्वं गच्छति एवेतत्रापरं गच्छति।**"(ऐ. ब्रा. ६।१७।२२)यही इन्द्र, रूप का अधिष्ठाता है। इसीलिए "इन्द्रोरूपाणि करीक्रदचरत्" एवं "रूपं रूपं मघवा बोभवीति" यह कहा जाता है।—१४ वाँ इन्द्र है–गति इन्द्र। इन १४ इन्द्रों

में यह गति इन्द्र ही प्रधान है। गति ही प्रतिष्ठा का विरोधी धर्म्म है। इन १४ इन्द्रों का विवेचन विस्तृत रूपेण–"ब्रह्मसमन्वय" में देखना चाहिए—

सत्यं श्वा विद्युदुत्साहः प्रज्ञा प्राणो द्युतिर्बलम् ।
वामात्मायुर्व्योमरूपं गतिरिन्द्राश्चतुर्दश ।।

प्रसंगागत हमने इन्द्र का स्वरूप बतला दिया है। अब पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं। हम बतला रहे थे कि जिसमें इन्द्र प्राण अधिक रहता है, उसमें प्रतिष्ठा की कमी रहती है। स्पिरिट, तारपीन, क्लोरोफार्म इत्यादि पदार्थ उसी समय हवा में उड़ जाते हैं। इसका एकमात्र कारण इन्द्र ही है। उसी समय इन्द्र उसे चूस लेता है। अतएव उनमें प्रतिष्ठा नहीं रह पाती। परन्तु पुस्तक, पर्वत, दवात, कलम–इनमें हम प्रतिष्ठा का अधिक मात्रा से दर्शन करते हैं। बस, इस प्रतिष्ठा का नाम ही ब्रह्म है। प्रतिष्ठातत्त्व को ब्रह्म कहते हैं। संसार के यच्चयावत् पदार्थों की यह ब्रह्म ही प्रतिष्ठा है। अर्थात् पदार्थों में जो एक ठहराव दिखलाई पड़ता है—"है" यह अस्तिभाव दिखलाई पड़ता है, वही "ब्रह्म" का स्वरूप है। जो तत्त्व अपने आपको प्रतिष्ठित रखता हुआ, उस पदार्थ को अपने में प्रतिष्ठित किये हुए है, वही ब्रह्म है। स्थिति तत्त्व का, प्रतिष्ठा तत्त्व का नाम ही ब्रह्मा है, गति तत्त्व का नाम ही इन्द्र है। विक्षेपणशक्ति का नाम इन्द्र है। आदान शक्ति का नाम विष्णु है। उस प्रतिष्ठा ब्रह्म पर इन्द्र और विष्णु में स्पर्द्धा चला करती है। इन्द्र, शरीर के प्राण को बाहर फेंकता रहता है एवं विष्णु बाहर से अन्न ला–ला कर उस कमी को पूरा किया करता है। इसीलिए विष्णु को प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है। वास्तव में देखा जाय तो गति-समष्टि का नाम ही स्थिति है, अर्थात् प्रतिष्ठा है। **एककालावच्छेदेन सर्वतः गति** को ही स्थिति कहते हैं। जो वस्तु एक कालावच्छेदेन चारों ओर जाना चाहती है, वह किसी तरफ भी नहीं जा सकती। इसी का नाम प्रतिष्ठा है। इस ब्रह्मप्रतिष्ठा के अधिष्ठाता विष्णु ही हैं। प्रतिष्ठा, गति-समष्टि का नाम है एवं गति के अधिष्ठाता इन्द्र हैं। बस, यह इन्द्र ही तो सर्वतः गतिमान हो कर विष्णु कहलाने लगता है। वस्तु–प्रतिष्ठा विष्णु के अधीन है। चूंकि गति इन्द्र का सीगा है, अतएव गति-समष्टि के अधिष्ठाता, प्रतिष्ठा के अधिष्ठाता, विष्णु को उपेन्द्र और इन्द्रावरज कहा

जाता है। यह इन्द्र–विष्णु उसी प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित रहते हैं। सारा विश्व कर्म्ममय है, क्रियामय है। क्रिया आदान-विसर्ग भेदेन दो ही प्रकार की है। आदान क्रिया का नाम विष्णु है, विसर्ग क्रिया का नाम इन्द्र है। यह दोनों ही क्रिया उस ब्रह्म प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित रहती है। यदि क्रिया के लिए कोई निष्क्रिय आलम्बन न हो, तो क्रिया की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। क्रिया ही विश्व का स्वरूप है। इसका जो आधार है, वही ब्रह्म है। अमृत तत्त्व को, अकर्म्म तत्त्व को ही ब्रह्म कहते हैं। बस, यही अकर्म्म ब्रह्म, अमृत ब्रह्म, इस कर्म्म जगत् की, मर्त्यजगत् की, क्रियामय जगत् की प्रतिष्ठा है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—"**ब्रह्मैवास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा।**"

यही ब्रह्म सबसे पहले उत्पन्न होता है। संसार में जितनी भी नई वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, उन सबमें पहले यह ब्रह्म ही उत्पन्न होता है। जो कुछ पैदा होता है, उस सब में पहले प्रतिष्ठा का ही जन्म होता है। क्रिया से ही विश्व की उत्पत्ति होती है। आदान क्रिया और विसर्ग क्रिया ही विश्व की जननी है। जिसका आदान होता है, उसका नाम है सोम और जिसका विसर्ग होता है, उसका नाम है अग्नि। अग्नि और सोम से ही तो सारी सृष्टि होती है। वीर्य्य सोम स्वरूप है, स्त्री का शोणित अग्नि स्वरूप है। यह शुक्र अर्थात् सोम, जब स्त्री के शोणित में अर्थात् अग्नि में आहुत होता है, तो इसी अग्नि-षोमात्मक यज्ञ से सन्तानोत्पत्ति होती है। बस, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम—ये पांच ही तो सब कुछ हैं। पांच अक्षर ही तो सृष्टि के मूलतत्त्व हैं। ब्रह्मा, प्रतिष्ठा का नाम है, इन्द्र विसर्ग का नाम है, विष्णु आदान शक्ति का नाम है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र— तीनों हृद हैं, केन्द्र में रहने वाले हैं एवं अग्नि और सोम ३३ तक रहने वाले हैं। अग्नि और सोम ही से तो वाक्–साहस्री, वेद–साहस्री और लोक–साहस्री का वितान होता है। यही अग्नि–सोम ३३ तक जाकर "महिमा" नाम से प्रख्यात होते हैं। इसी महिमामण्डल को वषट्-कार कहते हैं। इसी को साहस्रमण्डल कहते हैं। इस साहस्र के वितान के अधिष्ठाता इन्द्र और विष्णु ही हैं। आदान–विसर्ग से ही अग्नि सोम का ३३ तक का साहस्रमण्डल बनता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्येथे कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्॥

(ऋ.६।६।६६)

परन्तु इन्द्र–विष्णु की स्पर्धा के लिए किसी प्रतिष्ठा की, आलम्बन की आवश्यकता है। बिना प्रतिष्ठा के आदान–विसर्गात्मिका क्रिया बन ही नहीं सकती है। नई चीज तब पैदा हो सकती है जब कि आदानविसर्गात्मिका क्रिया है, एवं यह क्रिया तब हो सकती है जब कि इसकी कोई प्रतिष्ठा है। नई वस्तु की उत्पत्ति के पहले प्रतिष्ठा-जन्म की आवश्यकता है। बीज पहले मौजूद है, तभी उससे अंकुर निकलता है। यदि बीज प्रतिष्ठा न होती तो अंकुर ही न निकलता। एवमेव वह अंकुर उस प्रतिष्ठा ब्रह्मरस से ऊपर की ओर जाते-जाते जब रुक जाता है, उसकी गांठ हो जाती है, तब फिर उससे और शाखा निकलती है। और शाखा तब तक नहीं निकल सकती जब तक कि-वह रस प्रतिष्ठित न हो। जब ऊपर चढ़ते-चढ़ते वह रस प्रतिष्ठित हो जाता है तब जाकर उससे और शाखा निकलती है। नई चीज की उत्पत्ति के लिए पहले प्रतिष्ठा के जन्म की आवश्यकता है। बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है–**"ब्रह्मैव सर्वस्य प्रथमजम्।"**

यह ब्रह्म, यह प्रतिष्ठा, प्रकृत में तीन तरह से विवक्षित है। अर्थात् वह प्रतिष्ठा ब्रह्म तीन भागों में विभक्त है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में, चाहे वह छोटे से छोटा हो या बड़े से बड़ा हो, प्रत्येक में ये तीनों ब्रह्म, तीनों प्रतिष्ठाएं रहती हैं। प्रतिष्ठाएं रहती क्या हैं, प्रतिष्ठात्रय की समष्टि का नाम ही पदार्थ है। जो 'है'–कहने लायक पदार्थ है, वह प्रतिष्ठात्रय की समष्टि ही समझनी चाहिए। उन तीनों प्रतिष्ठाओं में से सर्वालम्बन अव्यय लक्षण जो ब्रह्म प्रतिष्ठा है, वह पहली है। यही मुख्य प्रतिष्ठा है। इसी के आलम्बन पर आगे की दोनों प्रतिष्ठाएं रहती हैं। अतएव इस अव्यय ब्रह्म प्रतिष्ठा को आलम्बन प्रतिष्ठा भी कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि सर्वालम्बन अव्यय लक्षण जो ब्रह्म है वही पहला भाग है। पहला ब्रह्म यही आलम्बन ब्रह्म है। इसी के लिए यह कहा जाता है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।। (कठ. २।२।१७)

त्रयी विद्यालक्षण जो ब्रह्म है, वह दूसरा ब्रह्म है जो कि वेद प्रतिष्ठा नाम से भी व्यवहृत होता है, एवं वीर्य्यलक्षण तीसरा ब्रह्म है। हमने "यः

सर्वज्ञः सर्वविधस्य ज्ञानमयं तपः''—इस मंत्र की व्याख्या में बतलाया था कि उस सर्वज्ञ सर्ववित् ब्रह्म से–ब्रह्म, नामरूप और अन्न–ये तीन तत्त्व उत्पन्न होते हैं। ब्रह्म से वेद प्रतिष्ठा अभिप्रेत है, नामरूप से ज्योति अभिप्रेत है एवं अन्न से यज्ञ अभिप्रेत है। इनमें से जो सर्वज्ञ ब्रह्म है उसे हम अव्यय ब्रह्म कहेंगे, जो सर्वालम्बन है। यही पहली प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा तत्त्व का नाम ब्रह्म है। यह प्रतिष्ठा आत्मप्रतिष्ठा और विधृतिप्रतिष्ठा भेदेन दो प्रकार की है। जो आत्मधारण प्रतिष्ठा है, वही सत्ताप्रतिष्ठा कहलाती है। इसी सत्ताप्रतिष्ठा का नाम आत्मन्वी है एवं जो भिद्यमान सत्ता है, उसी का नाम परप्रतिष्ठा है। इस आत्मप्रतिष्ठा में यह परप्रतिष्ठा भी, अर्थात् भिद्यमान सत्ता भी रहती है। इसी भिद्यमान सत्ता का नाम व्यक्ति है। जो आत्मप्रतिष्ठा है, वह व्यापक प्रतिष्ठा है। यह प्रतिष्ठा सर्वालम्बनभूता है। उस एक 'है' पर ये नाना 'हैं' नाच रहे हैं। एक पर नाना व्यक्तियाँ नाच रही हैं। बस, इस व्यक्तिप्रतिष्ठा को ही, भिद्यमान सत्ता को ही, त्रयीविद्यालक्षणप्रतिष्ठा कहते हैं। भिद्यमान सत्ता, उसी सत्ताघन से, आत्मप्रतिष्ठा से, अव्यय ब्रह्म से उत्पन्न हुई है, जो कि अव्यय ब्रह्म है, सर्वज्ञ है, सर्ववित् है। इसीलिए तो **तस्मादेतत् ब्रह्म** (जायते) यह कहा जाता है। इस व्यक्ति को ही वेद प्रतिष्ठा कहते हैं। ऋग्-यजु-साम की समष्टि का नाम ही वेद है। यह दूसरी प्रतिष्ठा है। भिद्यमान सत्ताप्रतिष्ठा अनन्त हैं एवं भिद्यमान सत्ताप्रतिष्ठा को ही वेद कहते हैं। इसीलिए "**अनन्ता वै वेदाः**" यह कहा जाता है।

उस एक ही आत्मा की भिन्न-भिन्न रश्मियाँ प्रतिबिम्बत हो कर वेद-प्रतिष्ठा नाम से व्यवहृत होने लगती हैं। इसी वेदप्रतिष्ठा का नाम ही महिमामण्डल है। यह वेद उसी ब्रह्म से-अव्यय ब्रह्म से-उत्पन्न हुआ है अतः इसे इसकी स्वमहिमा कहा जाता है। इसी स्वमहिमा में वह ब्रह्म (अव्यय ब्रह्म) प्रतिष्ठित रहता है। सर्वप्रथम वह अव्यय ब्रह्म मन–वाक्–प्राण स्वरूप सृष्टि-साक्षी बल से ऋग्–यजुः–सामात्मिका वेद प्रतिष्ठा को ही उत्पन्न करता है। उस प्रतिष्ठा को उत्पन्न कर स्वयं आप उसके केन्द्र में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

"सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत । भूयान्त्स्यां प्रजायेयेति, सोऽश्राम्यत् । स तपोऽतप्यत । स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम् । सैवास्मै प्रतिष्ठा भवत् तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति । तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति । प्रतिष्ठा ह्येषायद् ब्रह्म ।" (शत. ६।१।८)

उदाहरणार्थ–सूर्य्य को सर्वालम्बन अव्यय ब्रह्म समझिए एवं सूर्य्य मे निकलने वाली रश्मियों का जो महामहामण्डल है, जो कि बृहत् साम नाम से व्यवहृत होता है, उसी का नाम वेदमण्डल है। प्रत्येक रश्मि एक-एक वेद है। रश्मियाँ अनन्त हैं, अतएव वेद भी अनन्त ही हैं। उदाहरणार्थ मत समझिए, वास्तव में सूर्य्य को वेद समझिए। सूर्य्य वास्तव में त्रयीविद्यामय है। सूर्य्य का जो पिण्ड दिखलाई पड़ रहा है, वह ऋक् है। इसी को "महदुक्थ" कहते हैं। उक्थ उसको कहते हैं जहाँ से रश्मियाँ निकलती हैं। चूंकि सारी रश्मियां इसी सूर्य्यपिण्ड से निकलती हैं, अतएव इस पिण्ड को महदुक्थ कहा जाता है एवं जो इस सूर्य्य का बड़ा भारी मण्डल है, उसी का नाम साम है। इन ऋक्-साम के बीच में जो अनन्तानन्त पदार्थ हैं, उसी की समष्टि का नाम यजुपुरुष है। यही यजुपुरुष तीसरा वीर्य्य लक्षण ब्रह्म है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम् । ता ऋचः । स ऋचां लोकः । अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतम् । तानि सामानि । स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः । तानि यजूंषि । स यजुषां लोकः । सैषात्रय्येव विद्या तपतीति।" (शत. १०।५।२।१-२)

सूर्य्य को उदाहरण समझो–यह बात हमने इस अभिप्राय से कही थी कि हम आदि प्रजापति का, परम प्रजापति का, भगवान् स्वयम्भू का स्वरूप बतला रहे हैं। उनका जो वेदमण्डल है, सूर्य्यचन्द्र सब उसी के भीतर हैं। जो स्वयंभू भगवान् हैं वे अन्तर्यामी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वजगन्नियन्ता हैं, उनका यह जो महामण्डल है जिसमें कि अनन्त सूर्य्य, अनन्त परमेष्ठि, अनन्त चन्द्रमा, अनन्त पृथिवियां समा रही हैं, उसी का नाम त्रयीमय वेदब्रह्म है। इसी वेद को "ब्रह्मनिश्वसित वेद" कहते हैं एवं सूर्य्य को "गायत्रीमात्रिकवेद" कहा जाता है। इस ब्रह्मनिश्वसित वेद को ही हम त्रयीविद्यालक्षण ब्रह्म कहेंगे।

यही इस ब्रह्म की स्वमहिमा है । इसी स्वमहिमा के पेट में, अर्थात् वेद प्रतिष्ठा में, उसे प्रतिष्ठित रखता हुआ, उसमें आप स्वयं प्रतिष्ठित रहता है । जैसे सूर्य्य का प्रकाशमण्डल (रश्मिमण्डल) सूर्य्य से पृथक् नहीं रह सकता, सूर्य्य अपने सोलर सिस्टम से अभिन्न है, ठीक इसी प्रकार वह अव्यय ब्रह्म इस महिमामण्डल से अलग नहीं होता । इसीलिए अव्यय ब्रह्म के लिए "**स्वेमहिम्नि प्रतिष्ठित:**" यह कहा जाता है । महर्षि नारद सनत्कुमार से प्रश्न करते हैं–"हे भगवन् वह अव्यय अमृत ब्रह्म किसमें प्रतिष्ठित रहता है ?" सनत्कुमार उत्तर देते हैं–"स्वेमहिम्ने" । अन्त में कहते हैं–"**यदि वा न स्वेमहिम्नि । गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्ति हिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि । ब्रवीमीति होवाच–अन्योह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ।**" ब्रह्म स्वमहिमा में प्रतिष्ठित है, यह कह कर उसका खण्डन करते हैं कि, नहीं, वह स्वमहिमा में प्रतिष्ठित नहीं है । इसका कारण बतलाते हुए सनत्कुमार कहते हैं कि लोक में गाय, सोना, हाथी, पुत्र इत्यादि को स्वमहिमा कहा जाता है । स्वसंपत्ति को "**महिमा**" शब्देन व्यवहृत किया जाता है । याद रक्खो, ब्रह्म ऐसी महिमा में प्रतिष्ठित नहीं है । धन–संपत्ति जैसे हम से पृथक् होकर वह हमारी महिमा, हमारी अपनी चीज़ कहलाती है, वैसे ब्रह्म की महिमा ब्रह्म से अलग नहीं है । महिमा भी वही है । जैसे सूर्य्य रश्मियाँ सूर्य्य से अभिन्न हैं, ठीक उसी प्रकार यह महामण्डल उस ब्रह्म से अभिन्न है । महिमा उसमें प्रतिष्ठित है, वह महिमा में प्रतिष्ठित है, दोनों में भेद नहीं समझना चाहिए । बस, यही "**यदि वा न स्वेमहिम्नि**" का तात्पर्य्य है ।

"**गगनं गगनाकारं**" में जैसे गगन के अलावा दूसरा जगत् नहीं है ठीक इसी प्रकार स्वेमहिम्नि में स्वमहिमा उस ब्रह्म से पृथक् नहीं है । इस महिमामण्डल का नाम वेदमण्डल है । वेद में ऋग्-यजुः–साम का नाम वेद है । इनमें जो ऋक् साम हैं, वे तो स्थिर पदार्थ हैं । उनसे कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती । अतएव ये दोनों ही नपुंसक कहलाते हैं । बाकी बचता है,यजु । इस यजु में यत् और जू ये दो भाग हैं । इन दो भागों में जो यत् है उसका नाम वायु है, जू का नाम आकाश है । इस यत् जू की समष्टि का नाम ही यज्जू है । इसी यज्जू को परोक्षप्रिय देवता "**यजु:**" शब्द से व्यवहृत किया करते हैं । इसी यजु को पुरुष कहते हैं । यह यजु अग्निस्वरूप है । अग्नि की अवस्था

विशेष का नाम ही वायु है । यही अग्नि जब तरलावस्था में परिणत हो जाता है तो वायु कहलाने लगता है । बस, इस वायु से ही नई–नई वस्तुएं उत्पन्न होती हैं । उस जू भाग में, अर्थात् आकाश में जब वायु का संचार होता है तभी देवता, भूत इत्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं । अध्यात्म की ओर दृष्टि डालिए । वायु ही पैदाइश का मूल कारण प्रतीत होगा । जिस समय स्त्री के रज में वीर्य्य डाला जाता है, तो वायु ही रक्तादि का संचार करके असृङ्-मांसादि का निर्म्माण कर उस वीर्य्य को गर्भ–स्वरूप में परिणत करता है । यदि वायु की गति बन्द हो जाय, तो उसी समय प्राण निकल जाएं । अतएव इस वायु को "ब्रह्म" कहा जाता है । इसी से नई-नई वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, अतएव इसे पुरुष कहा जाता है । वायु, अग्नि ही है । अग्नि को ही ब्रह्म कहा जाता है, अतएव यह वायु भी ब्रह्म कहा जाता है । इसी से सब कुछ पैदा होता है, अतएव इस वायुमय यजुर्ब्रह्म को **"वीर्य्य"**–लक्षण ब्रह्म कहा जाता है । इस प्रकार यह प्रतिष्ठा ब्रह्म, आलम्बन, वेद और वीर्य्य भेदेन तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है ः वह सच्चिदानन्द अव्यय ब्रह्म अपनी तीन संस्था बना-कर ही रहता है । जो आलम्बन ब्रह्म है, वह तो ज्ञानघन है, वेद ब्रह्म क्रिया-घन है, वीर्य्य ब्रह्म अर्थघन है अर्थात् शक्तिघन है । एक ही प्रतिष्ठा, ज्ञान-क्रिया-अर्थ इन तीन सीगों में बंटी हुई है । एक ही तत्त्व तीन भावों में परिणत हो रहा है । यह सर्वज्ञः सर्ववित् में जो सर्ववित् है, वह आलम्बन ब्रह्म है । तस्मा-देतद् ब्रह्म में जो ब्रह्म है, वह त्रयीमय विद्यालक्षण ब्रह्म है एवं नाम-रूप-यज्ञ-समष्टि वीर्य्य–लक्षण ब्रह्म है । अव्यय ब्रह्म आलम्बन ब्रह्म है । वेदब्रह्म निमित्त-ब्रह्म है, एवं वीर्य्यब्रह्म कार्य्यब्रह्म है । अव्यय ब्रह्म ज्ञाता है, सच्चिदानन्द–घन है । वेदब्रह्म ज्ञान है, उस ज्ञाता की रश्मियां हैं एवं यच्चयावत् पदार्थ, ज्ञानरश्मि से निर्म्मित ज्ञेय हैं । ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के अलावा है ही क्या ? सूर्य्य अव्यय ब्रह्म है । सूर्य्य का रश्मिमण्डल त्रयीमय ब्रह्म है एवं सौर पदार्थ वीर्य्य-लक्षण अर्थात् अर्थलक्षण ब्रह्म है । ये रश्मियां जब पानी भरे पात्र में पड़ती हैं तो वहां भी एक नये सूर्य्य में परिणत हो जाती हैं । सूर्य्य की जो अर्क है अर्थात् किरण है, वह प्रतिबिम्ब की उक्थ बन जाती है । बस, जो तीन प्रतिष्ठा सोलर सिस्टमवाले सूर्य्य में थी, वे की वे ही इस प्रतिबिम्ब में भी आ जाती हैं । इस प्रतिबिम्ब का भी एक वेद–मण्डल बनता है, वही उसकी वेद प्रतिष्ठा

है, एवं उस वेदमहिमा में रहने वाला प्रतिबिम्ब केन्द्रस्थ सर्वालम्बन अव्यय ब्रह्म है, एवं उस महिमामण्डल में प्रतिबिम्ब जो पदार्थ हैं, वही वीर्य्यब्रह्म हैं। इसी प्रकार संसार के यच्चयावत् पदार्थों में, चाहे वह छोटे से छोटा हो या बड़े से बड़ा हो, तीनों प्रतिष्ठाएं समझनी चाहिए। प्रत्येक वस्तु में आलम्बन मण्डल, वेदमण्डल और शक्तिमण्डल–तीनों मण्डल रहते हैं। आलम्बन अव्यय-लक्षण ब्रह्म है, वेदमण्डल त्रयीविद्यालक्षण ब्रह्म है एवं शक्तिमण्डल वीर्य्यलक्षण ब्रह्म है। इस प्रकार एक ही प्रतिष्ठाब्रह्म तीन प्रतिष्ठाओं में परिणत हो रहा है। बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भाष्यकार कहते हैं—

"तदिदं ब्रह्म प्रकृते त्रेधाविवक्ष्यते–सर्वालम्बनमव्यय लक्षणं ब्रह्म प्रथमम्। त्रयीविद्यालक्षणं ब्रह्म द्वितीयम्। वीर्य्यलक्षणं ब्रह्म तृतीयम्।" एक ही सत्य तीन भागों में विभक्त हो जाता है। एक सत्य तीन सत्यों में परिणत हो जाता है। जो सर्वालम्बन अव्यय सत्य है उसे अन्तर्य्यामी सत्य कहा जाता है। सर्वालम्बनत्वात् इसे ही **"अद्वैतसत्य"** भी कहा जाता है एवं त्रयीलक्षण ब्रह्म को वेदसत्य कहा जाता है, एवं वीर्य्यलक्षण ब्रह्म को **"सूत्रसत्य"** कहा जाता है। बस, **"त्रिसत्यादेवाः"** का यही रहस्य है।

अव्यय, विद्या, वीर्य्य लक्षणोपेत इन पूर्वोक्त तीनों ब्रह्मों में से हम पहले अव्यय ब्रह्म की ही व्याख्या करेंगे क्योंकि तीनों में मुख्य वही है– **"तेष्वेतेष्वव्यय विद्यावीर्य्य लक्षणेषु ब्रह्मस्वव्ययं तावद् व्याख्यास्यामः।"**

जो शुद्ध रस है, उसे निर्विशेष कहते हैं एवं सर्वबलविशिष्ट रस को परात्पर कहते हैं। यह बात हम पूर्व के सत्यकृष्णरहस्य में विशद रूपेण बतला आए हैं। यह सर्वबल विशिष्ट जो परात्पर ब्रह्म है, वह सर्वदा असीम है अतएव वाङ्मनसातीत है, शास्त्रानधिकृत है। अनुपास्य है, तटस्थ लक्षणमात्र से ज्ञेय है। स्वरूप लक्षण से इस असीम ब्रह्म का निर्वचन कथमपि नहीं किया जा सकता। यही सर्वबलविशिष्ट परात्पर ब्रह्म मायाबलावच्छेदात्–मिति को-ससीम भाव को प्राप्त होकर "पुरुष" नाम से व्यवहृत होने लग जाता है। पुर कहते हैं, घेरे को। अब तक वह परात्पर ब्रह्म घेरे में नहीं था अपितु सर्वत्र व्यापक था, असीम था। परन्तु मायाबल के उदय होते ही एक अंश में यह व्यापक रस परिच्छिन्न हो जाता है, ससीम बन जाता है, घेरे में आ जाता

है। घेरे ही को तो पुर कहते हैं। चूंकि वह परात्पर माया के पुर में आ जाता है, अतएव इसका नाम **"पुरुष"** हो जाता है। मायावच्छिन्न रस परात्पर न कहला कर पुरुष कहलाने लगता है। पानी के पात्र में आया हुआ बद्ध सूर्य भी जैसे अपने स्वरूप से नष्ट नहीं होता, प्रतिबिम्ब पर चाहे कितनी ही तलवारें चलाओ, वह कट नहीं सकता, ठीक इसी प्रकार मायावच्छिन्न इस पुरुष का माया से परिच्छिन्न हो जाने पर भी कुछ नहीं बिगड़ता। माया में रात-दिन रहता हुआ भी वह स्वस्वरूप से आकाश में व्याप्त वायुवत् विकृत नहीं होता, अतएव इसे अव्यय नाम से व्यवहृत किया जाता है—**"असीमं हीदं परात्परं ब्रह्म मायाबलावच्छेदाद् मितिं गत्वा पुरुषो भवति।"**

माया के परिच्छेद में परिच्छिन्न होता हुआ अखण्ड भी वह पुरुष अर्थात् रस निष्कल और पञ्चकल भेदेन दो प्रकार से प्रतीत होने लग जाता है। मायावच्छिन्न अखण्ड रस निष्कल और पञ्चकल–अपने ये दो स्वरूप धारण कर लेता है—

"अखण्डोऽपि स पुरुषो द्वैविध्येनानुभाव्यते निष्कल: पञ्चकलश्चेति।" महामायावच्छिन्न मात्र जो रस है वह निष्कल कहलाता है। एक घेरा ही तो उसके लगा है। जब दो भाव होते हैं तो कला-व्यवहार होता है। एक में कला-व्यवहार नहीं होता। एक तो निष्कल ही कहलाता है—**"महामायावच्छिन्न मात्रो निष्कल:"** एवं आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—इन पांचों योगमायाओं से अवच्छिन्न जो पुरुष है, वह पञ्च कहलाता है। उस मायावच्छिन्न रस में, अव्यय में, अन्तर्लय और बहिश्चिति नाम के दो बल उत्पन्न होते हैं। अन्तश्चिति का नाम आनन्द-विज्ञान मन है, बहिश्चिति का नाम मन-प्राण वाक् है। कैसे ये बल उत्पन्न हो जाते हैं, यह हम आगे बतलाने वाले हैं। प्रत्येक बल की माया पृथक्-पृथक् होती है। माया ही का नाम परिच्छेद है और परिच्छेद से ही पृथक् होता है। पांच बल हैं, इससे सिद्ध हो जाता है कि पांचों की पांच माया हैं। ये पांचों ही मायाएँ चूंकि उस महामाया में युक्त रहती हैं, उसके साथ ये पांचों अपना योग रखती हैं, अतएव इन पांचों को योगमाया कहा जाता है। पांचों ही को नहीं, इस महामाया के उदर में जितनी भी माया उत्पन्न होगी उन सबको योगमाया शब्द से ही व्यवहृत किया जायगा। प्रकृत

में हमें यही कहना है कि ग्रानन्द, विज्ञानादि पांचों योगमायाओं से ग्रवच्छिन्न जो पुरुष है, वह ग्रानन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् पांच कलाग्रों के कारण पञ्चकल कहलाने लगता है। इस प्रकार एक ही ग्रखण्ड पुरुष केवल महामाया-पेक्षया निष्कल कहलाता है। इसी के लिए श्रुति कहती है—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योति स्तद्यदात्मविदो विदुः ॥इति॥
(मुण्डक. २/२/६)

एवं योगमायापेक्षया वही पञ्चकल कहलाने लगता है। एक ही दो स्वरूप धारण कर लेता है—

योगमायावच्छिन्नस्तु भूत्वा ग्रानन्दो विज्ञानं-मनः प्राणो-वागिति पञ्चकलः।"

निम्नलिखित मुण्डक श्रुति से यह ग्रव्यय पुरुष चूंकि पञ्चकलोपेत ही सिद्ध होता है ग्रतएव हम योगमायावच्छिन्न ग्रव्यय पुरुष को ग्रवश्य ही पञ्चकल कहने के लिए तैयार हैं। ग्रव्यय को ग्रानन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—इन पांचों कलाग्रों से युक्त बतलाने वाली श्रुति यह है—

मनोमयः प्राणशरीर नेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा ग्रानन्दरूपममृतं यद्विभाति॥
(मुण्डक २/२/७)

मनोमय और प्राण शरीर का ग्रधिष्ठाता जो ब्रह्म है, वह अन्न में ग्रपना हृदय रखकर प्रतिष्ठित रहता है, ग्रर्थात् मन-प्राण-स्वरूप ग्रात्मा की प्रतिष्ठा ग्रन्न है। ग्रन्न ही को वाक् कहते हैं। जो वस्तु सकेन्द्र होती है उसे सत्य कहा जाता है, एवं जिसके केन्द्र नहीं होता, वह ऋत् कहलाती है। ऋत् ग्रप्रतिष्ठित वस्तु है। पिण्डवत्, सत्यवत्, ऋत पदार्थ प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। मन ग्रौर प्राण दोनों ही ऋत पदार्थ हैं। दोनों ही ग्रशरीर हैं ग्रर्थात् दोनों ही पिण्डस्वरूप नहीं हैं ग्रतएव स्व-स्वरूप से दोनों ही ग्रप्रतिष्ठित हैं। तीसरी बचती है वाक् ग्रर्थात् ग्रन्न। इसमें ग्रवश्य केन्द्र है क्योंकि पिण्ड पदार्थ का नाम ही वाक् है। बस, वह मन-प्राण-स्वरूप शरीर नेता ग्रर्थात् वाक् पिण्ड का नेता उसी वाक् के ग्रर्थात् शरीर के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है। मन-प्राण-ग्रात्मा की प्रतिष्ठा ग्रन्न है अर्थात् वाक् है।

उस प्रतिष्ठित तत्त्व को धीर मनुष्य विज्ञान स्वरूप से देखते हैं जो कि विज्ञान के भीतर आनन्द स्वरूप अमृत प्रतिभासित हो रहा है। पूर्वोक्त मुण्डक श्रुति से आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् (अन्न) इन पाँचों कलाओं का प्रतिपाद किया जाता है। अतएव पांचों की पांचों—योगमायाओं से युक्त उस अव्यय पुरुष को हम "**पञ्चकल**" कहने के लिए तैयार हैं।

महामायावच्छिन्न जो निष्कल पुरुष है, वह अनिरुक्त है अतएव अप्रकाश स्वरूप है, इसीलिए उस निष्कल तत्त्व को हम "**कृष्ण**" कहने के लिए तैयार हैं। आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् इनका हमें अनुभव होता है एवं इनका हम वर्णन कर सकते हैं, परन्तु जो पांचों में एक भी नहीं है, उसका निर्वचन ही क्यों कर हो सकता है, वह तो सर्वथा अनिर्वचनीय ही है। इसलिए उस निष्कल तत्त्व को हम अनिरुक्त कहने के लिए तैयार हैं। जो वस्तु अनिरुक्त है, वह समझ में आ ही नहीं सकती। जो वस्तु समझ ही में नहीं आ सकती, उसे सिवाय कृष्ण के और किस नाम से पुकारा जाता? जिसका ज्ञान हो जाता है, उसे शुक्ल कहा जाता है। ज्ञान हो गया, इसके लिए भाषा में "**चाँदना हो गया**" यह कहा जाता है। चूंकि वह निष्कल तत्त्व अनिरुक्तत्वात् अप्रकाशी वस्तु है, समझ से बाहर की चीज है, अतएव हम उसे "**कृष्ण**" कहने के लिए तैयार हैं "**तत्र निष्कलोऽयमनिरुक्तत्वादप्रकाशत्वात् कृष्णः।**" एवं जो आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् इन पांचों कलाओं से युक्त पञ्चकल पुरुष है, वह इन पांचों ही कलाओं से सर्वथा अनुभूत होता है। अतएव प्रकाशत्वात् पञ्चकल पुरुष को हम "**शुक्ल**" कहने के लिए तैयार हैं। आनन्द का भी अनुभव होता है, विज्ञान का भी अनुभव होता है, मन-प्राण-वाक् का भी अनुभव होता है। पांचों का ज्ञान हुआ करता है। ज्ञान ही को तो शुक्ल कहते हैं। अतएव पञ्चकलोपेत अव्यय को हम "**शुक्ल**" कहने के लिए तैयार हैं।

अथ यः पञ्चकलःस पञ्चभिराभिः कलाभिः सर्वथानुभूयते। तस्मात् प्रकाश इति शुक्लः।

आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् इन पांचों कलाओं की अवच्छेदिका जो पृथक्-पृथक् माया हैं वे पांचों माया उस महामाया में योग द्वारा अपने आप

को मिलाये रखती हैं अर्थात् पांचों ही उस महामाया से युक्त रहती हैं अत-एव इन पांचों को हम **"योगमाया"** कहने के लिए तैयार हैं—

पञ्चानामासां कलानां पृथक् परिच्छेदिका अवान्तरमाया महामायायां योगेनात्मानं मापयन्तीति योगमायास्युः ।

ये पांचों ही योगमाया उस महामाया में उल्वण रहती हैं, उद्‌बुद्ध रहती हैं । अतएव इन पांचों योगमायाओं से ढका हुआ यह महामायी भगवान् अव्यय निष्कल पुरुष स्फुटरूपेण किसी के भी प्रत्यक्ष का कारण नहीं बनता है, अर्थात् योगमाया इतनी उल्वण हो रही है, आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्—पांचों ने उस निष्कल अव्यय पुरुष पर ऐसा पर्दा डाल रखा है जिससे उसका पता हीं नहीं चलता है । संसार की ओर दृष्टि डालने से इन पांचों के अलावा और कुछ भी नहीं दीखता है । दीखे कैसे जबकि इन पांचों ने उसे आवृत कर रखा है । पांचों से आवृत अतएव अव्यय इस पुरुष के किसी को भी दर्शन नहीं होते । इस बात को भगवान् स्वयं अपने मुँह से बतलाते हुए कहते है— **"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।"** योगमायाओं से ढका हुआ जो मैं (अव्यय) हूं, वह सर्वसाधारण के लिए सर्वथा अप्रत्यक्ष ही हूं । सर्वसाधारण की दृष्टि में माया ही माया नाचा करती है, उसे अव्ययात्मा के दर्शन कथमपि नहीं हो सकते—

"तासां योगमायानामुल्वणतया तदावृतोऽयं महामायी भगवानव्ययो-निष्कलः पुरुषो न स्फुटं कस्यापि प्रकाशोभवतीत्वाह भगवानेव—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायामुसमावृतः" इति । (गीता. ७।२५

इस सम्पूर्ण प्रपञ्च से सिद्ध हो जाता है कि जो निष्कल अव्यय पुरुष है वह तो अनिरुक्तत्वादप्रकाशत्वात् कृष्ण है । एवं पञ्चकल अव्यय पुरुष निरुक्तत्वात् अतएव प्रकाशत्वात् शुक्ल है । इस प्रकार, वह एक ही तत्त्व, एक ही अर्थ मायाभेदेन शुक्ल और कृष्ण-दो स्वरूप धारण कर लेता है । तत्त्व एक ही है, परन्तु अवस्थाभेद से वही कृष्ण और शुक्ल दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है—

"तेनाऽयं निष्कलोऽव्ययः कृष्णः । पञ्चकलोऽव्ययः शुक्लः । एक एवायमर्थः कृष्णश्च शुक्लश्च ।"

सबसे पहले महामायावच्छिन्न निष्कल अव्यय पुरुष, योगमायावच्छेदेन आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक्—इन पांच कलाओं से युक्त हो कर पञ्चकलयुक्त स्वरूप धारण करता है एवं तदनन्तर ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम एतत् पञ्चकलोपेत अक्षर से एवं प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न एतत् पञ्चकलोपेत क्षर से आवृत हो जाता है। आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण वाक् में जो मन-प्राण-वाक् है वह सृष्टिसाक्षी बल है। इसी से अक्षर और क्षर का प्रादुर्भाव होता है। अक्षर की भी पांच कला हैं एवं क्षर की भी पांच कला हैं। प्रत्येक कला की अपनी-अपनी प्रातिस्विक योगमाया है। माया ही से तो इन कलाओं का स्वरूप बना हुआ है। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, इन तीनों, अक्षरों की जो माया है, उसे ब्रह्ममाया, विष्णुमाया और शिवमाया कहते हैं। शिव को वैदिक परिभाषानुसार "इन्द्र" नाम से व्यवहृत किया जाता है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि वह निष्कल अव्ययपुरुष आनन्द–विज्ञानादि पांच योगमायाओं से तो युक्त था ही, अब उसमें पांच अक्षर की योगमाया एवं पांच क्षर की योगमाया–ये दस योगमाया और जा मिलती हैं। अक्षर को पराप्रकृति कहा जाता है एवं क्षर को अपराप्रकृति कहा जाता है। ये दोनों प्रकृतियां इस पुरुष के साथ सदा अविनाभूतभावेन रहती हैं। इसलिए आत्म प्रजापति को "षोडशी" पुरुष कहा जाता है। "**षोडशकलं वाऽइदं सर्वम्**" का यही रहस्य है। कहना यही है कि पञ्चकलोपेत अक्षर से, अर्थात् पराप्रकृति से एवं पंचकलोपेत क्षर से, अर्थात् अपराप्रकृति से आवृत होकर यह अव्यय पुरुष किसी को भी स्फुटरूपेण प्रतीत नहीं होता है। परा-अपराप्रकृति के पहले जो थोड़ा बहुत इस पञ्चकल का स्वरूप दिखलाई पड़ता था, आज प्रकृतिद्वयावृत्ति के कारण वह भी छुप जाता है।

बात सच है। संसार में हम क्षर का प्रत्यक्ष कर रहे हैं एवं अक्षर को अनुमान से पहचान रहे हैं। क्षर क्रिया का नाम है। क्रिया तब तक उत्पन्न नहीं हो सकती जब तक कि इसका कोई निष्क्रिय आलम्बन न मान लिया जाय। अतएव इस क्षर का आलम्बन अवश्य ही एक अक्षर तत्त्व मानना पड़ता है। हर पल बदलते रहने पर भी हम पदार्थों में जो नित्य भाव देखते हैं, वही अक्षर है। यह अक्षर उस क्रिया के ढेर को पकड़ कर उस पर सवार रहता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—"**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**" (भ गी. १५।१६)

बस, अक्षर पर आ कर समाप्ति हो जाती है। अव्यय का न अनुमान किया जा सकता है, न तर्क किया जा सकता है। अक्षर से क्षर उत्पन्न होते हैं। अन्त में सारे क्षर उसी अक्षर में विलीन हो जाते हैं। बस, इन दो भावों के अलावा संसार में और कुछ भी प्रतीत नहीं होता है। हो कैसे, प्रकृति को छोड़ कर पुरुष कैसे भान का विषय बन सकता है? प्रकृतिविशिष्ट पुरुष का प्रत्यक्ष हो सकता है? केवल अव्यय के दर्शन हर्गिज नहीं हो सकते। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

यह "पञ्चकल अव्यय पुरुष" पञ्चकल अक्षर से एवं पञ्चकल क्षर से आवृत हो जाता है। इस प्रकार अक्षर और क्षर स्वरूप परा-अपरा प्रकृतियों से, पांच योगमायाओं से, अन्य इन दसों योगमायाओं से समावृत (आच्छन्न) यह अव्यय किसी भी प्रतीति का विषय नहीं बनता है। प्रकृति-निरपेक्ष पुरुष का भान हर्गिज नहीं हो सकता है। केवल अव्यय प्रतिभासित न होने का यही कारण है। **"अथ पुनरयं पञ्चकलोऽव्ययः पुरुषः पञ्चकलेनाक्षरेण पञ्चकलेन क्षरेण चाव्रियते, इति प्रकृतिभ्यां क्षराक्षराभ्यामावरणादन्यया योगमायया समावृतः सन्नकस्याप्यद्धा भासते-प्रकृति निरपेक्ष पुरुषस्याप्रतिभातत्वात्।"**

इससे सिद्ध हो जाता है कि क्षराक्षर प्रकृति-निरपेक्ष जो पञ्चकल अव्यय पुरुष है, वही कृष्ण है। प्रकृति के बिना उस पञ्चकल का भान नहीं होता। अतएव हम उसे कृष्ण कहने के लिए तैयार हैं, एवं क्षराक्षर योग से प्रकृतिविशिष्ट जो यह पुरुष है उसका सबको प्रत्यक्ष होता है, अतएव इसे हम शुक्ल कहने के लिए तैयार हैं।

तस्मादेष पञ्चकलोऽव्ययः प्रकृति निरपेक्षः कृष्णः। क्षराक्षर योगात् प्रकृति विशिष्टस्त्वेष पञ्चदशकलः शुक्लः।

सम्पूर्ण कथन से सिद्ध हो जाता है कि निष्कल अथवा पञ्चकल जो भगवान् अव्यय ब्रह्म पुरुष है, वह कृष्ण है। जो कृष्ण प्रकृति राधा से, जो गौरवर्ण है, उससे कृतरूप है, उसी का ध्यान करना चाहिए, उसी की उपासना करनी चाहिए, क्यों कि उपासना विशिष्ट की ही हो सकती है। शुक्ल अव्यय तो शब्दैकमात्रगम्य ही है—

तथाचायं निष्कलः पञ्चकलो वा भगवानव्ययो ब्रह्म पुरुषः कृष्णः । प्रकृत्या राधया कृतरूपः सोनुऽध्यातव्यः । स उपासितव्यः ।।

निष्कल अथवा पञ्चकल जो अव्यय है, वह अनिरुक्त है, अप्रकाशी है। इस अव्यय के दर्शन, बिना प्रकृति के नहीं होते। प्रकृतिविशिष्ट की ही उपासना हो सकती है। शुद्ध अव्यय तो सर्वदा अनुपास्य ही है, अविज्ञेय ही है। अतएव उसे हम "**कृष्ण**" कहने के लिए तैयार है। सर्वबलविशिष्ट रस का नाम परात्पर है। इसमें जब मायाबल का उदय होता है तो परात्पर का यत्किञ्चित् प्रदेश उस मायाबल से घिर जाता है। वह माया–बल से घिरा हुआ जो रस है, वही "**अव्ययपुरुष**" कहलाने लगता है। माया के अभाव में वह असीम था, किसी पुर में प्रविष्ट नहीं था किन्तु अब वह मायापुर में घुस गया है, अतएव "**पुरुष**" कहलाने लग गया है। मायापुर में घुसे हुए मायावच्छिन्न रस की यह पहली अवस्था है, अर्थात् अभी और मायाएं पैदा नहीं हुई हैं, अभी तो एक ही माया है, जिसने कि इसे परिच्छिन्न बना दिया है, बस इस महामायावच्छिन्न मायी रस को "**निष्कल अव्यय पुरुष**" कहते हैं। इस निष्कल का नाम "**श्वोवसीयस ब्रह्म**" है। इसी श्वोवसीयस ब्रह्म को "**मन**" कहते हैं। यद्यपि मन व्याप्त है उस सारे माया के घेरे पर, तथापि उसका असली स्थान माया के घेरे का केन्द्र समझना चाहिए। महामायावच्छिन्न जो निष्कल पुरुष है, उसका जो केन्द्रीय भाग है, वही असली मन है। अभी तक सिवाय मन के और कोई दूसरी वस्तु नहीं है, अतएव इस मन को हम निष्कल पुरुष कहने के लिए तैयार हैं। जो वस्तु व्यापक होती है, असीम होती है, उसमें केन्द्र नहीं होता। परिच्छिन्न वस्तु में केन्द्र हुआ करता है। रस जब तक अपरिच्छिन्न था, परात्परावस्था में था, तब तक असीम था एवं केन्द्र रहित था। परन्तु वही रस जब माया बल के कारण परिच्छिन्न हो गया, तो उसी समय उसमें हृद् बल का प्रादुर्भाव हो गया, उसी समय उसमें केन्द्र कायम हो गया। प्रत्येक पदार्थ की स्थिति अपने-अपने केन्द्र पर, (सेंटर बिन्दु पर) अवलम्बित रहती है। पदार्थों में तात्त्विक वस्तु केन्द्र ही है। **यदि केन्द्र को नष्ट कर दिया जाता है, तो वह वस्तु एकान्ततः नष्ट हो जाती है।** हमारे हाथ-पांव में यदि कोई खराबी हो जाती है अथवा हाथ-पैर को किसी फोड़े-फुंसी के कारण कटवा दिया जाता है,

तब भी शरीर का पतन नहीं होता। हाथ-पैर के कट जाने से प्राणोत्क्रमण नहीं होता। परन्तु हृदय के विचलित होते ही, सेण्टर के नष्ट होते ही, उसी क्षण प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। इससे मानना पड़ता है कि केन्द्र ही प्रत्येक पदार्थ का असली प्राण है। यदि केन्द्र को पकड़ लिया जाता है तो उसी के आधार पर रहने वाली वस्तु चाहे कितनी भी वजनदार हो, आसानी से उठ जाती है। एक पुस्तक को आप प्रांतभाग से उठाएँ, आपको बड़ा बोझा मालूम होगा एवं उठाने में कठिनता पड़ेगी। परन्तु यदि पुस्तक बीच में से उठाली जाय, तो उसी समय बोझा कम मालूम होने लगेगा। कारण इसका यही है कि ऐसी अवस्था में आप केन्द्र के आस-पास पहुंच जाते हैं। विश्वास रखिए, जिस दिन आप पुस्तक के ठीक केन्द्र पर पहुंच जाएंगे, उस दिन पुस्तक आपको फूल से भी हल्की मालूम होगी। इसी केन्द्र विद्या के आधार पर पाश्चात्य जगत् लाखों मन बोझ को केन्द्रमापक यंत्र से गेंद के माफ़िक इधर से उधर फेंक देता है। इसी यंत्र के सहारे से जहाज में से लाखों मन बोझ सैकण्डों में बाहर निकाल कर फेंक दिया जाता है जिसे कि सौ मनुष्य सौ दिन में भी नहीं उठा सकते। यह सारी महिमा इसी केन्द्रविद्या पर अवलम्बित है। गीता के आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण इस केन्द्र विद्या के आचार्य थे। अपनी इस विद्या का उपदेश उन्होंने गिरिराज गोवर्द्धन को उठा कर दिया। उन्होंने उस महा विशाल पर्वत को एक अंगुली पर उठा कर संसार को बतला दिया कि यदि तुम असली तत्त्व को, अव्यय कृष्ण को पहचानना चाहते हो तो केन्द्र को पहचानो। जिस दिन केन्द्र तत्त्व को पहचान जाओगे, उस दिन पर्वत ही नहीं सारा विश्व ही तुम्हारे लिए कोई चीज़ नहीं रहेगा। उस केन्द्रीय मन के सामने मेटेरियल चीज कोई वस्तु नहीं है। जरा मन के बिगड़ जाने पर शरीर का आकार और का और ही हो जाता है। हाथ, पैर, मुंह, कान, नाक, आँख सब बदल जाते हैं। यह उसी केन्द्र का, उसी नित्यतत्त्व का, उसी मन का प्रभाव है। वही मन, वही निष्कल तत्त्व, सारे मेटेरियल जगत् पर शासन कर रहा है। जिसमें से यह निकल जाता है, वह वस्तु ही लापता हो जाती है। इसी मन के लिए, इसी केन्द्रीय प्रजापति के लिए, श्रुति कहती है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।
(शु. यजु. ३१।१९)

बस, इसी मन का नाम निष्कल पुरुष है। माया के सारे घेरे में अभिव्याप्त रहता हुआ भी यह अपनी स्थिति केन्द्र में ही कायम करता है। अतएव इस केन्द्रीय रस को ही हम मन कहेंगे। जिस वस्तु में प्राण रहता है, उसे सत् कहा जाता है। शरीर में जब तक प्राण है, तब तक वह सत् कहलाता है। प्राण के निकलते ही शरीर असत् कहलाने लगता है। यह प्राण इसी मन से उत्पन्न होता है। परन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में जबकि सिवाय इस निष्कल पुरुष के, मन के, अलावा और कुछ न था तो सिद्ध हो गया कि प्राण भी न था एवं चूंकि मन में प्राण न था तथा प्राण ही से वस्तु सत् नाम से व्यवहृत होती है अतएव वह निष्कल मन "**असत्**" कहलाया। संसार के पहले, विश्वोत्पत्ति के पहले, इनमें से कुछ भी न था, जो कि आज तुम देख रहे हो। यदि कुछ था तो यही असत् मन था। सृष्टि के पहले मायावच्छिन्न निष्कल अव्ययपुरुष के असत् मन के अलावा और कोई दूसरी वस्तु नहीं थी। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

नेव वाऽइदमग्रेऽसदासीन्नेव सदासीत् । आसीदिववाऽइदमग्रे नेवासीत् । तद्ध तन्मनएवास । (शत० काण्ड १०।५।३।१)

इस असत् मन से, श्वोवसीयस ब्रह्म से, सबसे पहले काम ही उत्पन्न होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में, सबसे पहले इच्छा बल का ही प्रादुर्भाव होता है। मायावच्छिन्न रस का नाम ही निष्कलपुरुष है। इसी का नाम अव्ययमन है। इससे सर्वप्रथम इच्छा बल ही उत्पन्न होता है। सृष्टि-निर्म्माण में यह तीसरा बल समझना चाहिए। पहला बल मायाबल है, जिसने कि इसे (परात्पर को) परिच्छिन्न बनाया। दूसरा बल है हृद् बल, जो कि ससीमता होते ही तदव्यवहितोत्तर काल में ही उत्पन्न हो गया। इन दो बलों के अनन्तर तीसरा यही इच्छा बल है। इसी का नाम काम है। जो वस्तु परिच्छिन्न होती है, इच्छा उसका एक स्वाभाविक धर्म्म हो जाता है। इच्छा का ही दूसरा नाम है अशनाया बल, बुभुक्षा बल। जो तत्त्व व्यापक था वही आज माया से

परिच्छिन्न हो गया अतएव इसमें उस परिच्छेद को तोड़ने की इच्छा का अपने आप उदय होता है। जो वस्तु अपने पास नहीं है, उसको प्राप्त करने की इच्छा होती है। यह रस उस व्यापक रस से अलग हो गया। इस रस के और उस व्यापक रस के बीच में माया का अन्तराय आ गया है। बस, उस अन्तराय को तोड़ने के लिए, अपने उसी व्यापक स्वरूप में पहुँचने के लिए उसमें इच्छा बल प्रादुर्भूत होता है। इसीलिए संसार के यच्चयावत् प्राणिमात्र इस इच्छा के वशीभूत हो रहे हैं। उस दिन इनकी इच्छा का विनाश होगा, जिस दिन सारी हृद्–ग्रन्थियां टूट जाएंगी एवं ये उस व्यापक रस में मिल जाएंगे। जब तक ऐसा नहीं होता हैं, तब तक चाहे महामहायोगेश्वर ही हो, इच्छा से अलग नहीं हो सकता है। हाँ, इच्छा में तारतम्य हो सकता है, इच्छा हो ही नहीं, यह बात सर्वथा गलत है। जो वीतराग है, उन्हें मुक्ति की ही इच्छा है। पंडितों को शास्त्रज्ञान प्राप्ति की इच्छा है। वकीलों को अपनी प्रेक्टिस बढ़ाने की इच्छा है। एक ६ महीने के बच्चे को दूध पीने की इच्छा है। कहाँ तक कहें, प्राणिमात्र इस इच्छा के वशीभूत हो रहे हैं। जब स्वयं अव्ययेश्वर तक इच्छा के, काम के, अधीन हैं, तो तदंशभूत प्राणियों का कहना ही क्या है ?

कहना इस प्रपञ्च से हमें यही है कि जब वह परात्पर रस माया-वच्छिन्न हो कर परिच्छिन्न हो जाता है तो उसमें उस परिच्छेद को तोड़ने के लिए पहले-पहल इच्छाबल उत्पन्न होता है। उस मायावच्छिन्न अव्यय मन का पहला रेत काम ही है। इस काम का, इस इच्छा का, मूल वही परिच्छेद समझना चाहिए। असीम से ससीम भाव में परिणत होते ही, मन से काम का प्रादुर्भाव होता है। अतएव हम कह सकते हैं कि ससीमता ही, लिमिट ही, इच्छा की जननी है। बात वास्तव में सच है। जो वस्तु व्यापक होती है, वह तो आप्तकाम होती है, जिस वस्तु का अभाव होता है, उसकी इच्छा हुआ करती है। जब वह स्वयं असीम है, तो उससे बाहर और बच ही क्या जाता जिसकी प्राप्ति के लिए उसमें इच्छा उत्पन्न हो ? इच्छा तो अप्राप्त काम की होती है, अप्राप्त वस्तु की होती है। इसीलिए परात्पर में इच्छा नहीं होती क्योंकि वह असीम है। परन्तु मायावच्छिन्न रस में अवश्य ही इच्छा होती है,

क्योंकि वह ससीम रहता है। उस असीमता की प्राप्ति के लिए, बहुत्व स्वरूप में परिणत होने के लिए, उसमें अपने-आप इच्छाबल प्रादुर्भूत होता है। "एकोऽहंबहुस्याम"—यही उसकी इच्छा का स्वरूप है। वह मायावच्छिन्न निष्कल अव्यय क्या है जिससे कि इच्छा उत्पन्न होती है, तो इसका एकमात्र उत्तर है– "मन"। उस मायावच्छिन्न रस का नाम अव्यय मन ही है। इसी से सर्व-प्रथम काम उत्पन्न होता है। काम अर्थात् इच्छा मन का पहला धर्म्म है। सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यही है कि जब वह परात्पर मायावच्छिन्न हो, असीमता से ससीमता में परिणत हो गया, तो उसका नाम निष्कल अव्यय पुरुष हो गया। यही निष्कल "मन" कहलाने लग गया। इस मन से सर्वप्रथम परिच्छेदमूला इच्छा का प्रादुर्भाव हुआ। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।।

(ऋक्० १०।१०६।५)

सर्वप्रथम मन का पहला रेत यह काम ही प्रादुर्भूत हुआ। सृष्टि के पहले यही था। अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति में पहले-पहल काम ही उत्पन्न होता है। यही **"मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्"** का तात्पर्य है। श्रुति ने समवर्त्तत कहा है, समजायत नहीं कहा, इससे सिद्ध होता है कि इच्छा पैदा नहीं होती। पहले इच्छा न थी और अब इच्छा का नया जन्म हो गया, यह बात नहीं है। अपितु इच्छा तो मन का धर्म्म ही है। धर्म्म, धर्म्मी से कभी अलग नहीं हो सकता है। परन्तु जब इच्छा उन्मुग्ध रूप से मन में रहती है तो इसका अभाव प्रतीत होने लगता है, एवं उद्बुद्धावस्था में उसका स्वरूप सबके सामने आ जाता है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इच्छा नई उत्पन्न होती है। इसका तो सिर्फ आविर्भाव-तिरोभाव मात्र होता रहता है। मन में सारी इच्छाएं सदा से मौजूद रहती हैं। इसमें से इच्छाएं प्रादुर्भूत होती रहती हैं एवं विलीन होती रहती हैं। दूध में से घृत नया उत्पन्न नहीं होता अपितु दूध में उन्मुग्ध रूप से जो घृत बैठा हुआ था, वही प्रादुर्भूत हो जाता है। यदि नया ही पैदा होता तो फिर पानी में से भी घृत निकल आता। इच्छा मन में पहले से मौजूद थी, वही रश्मिरूपेण बाहर निकलती है। यदि इच्छा न होती, तो कभी भी मन से इच्छा का प्रादुर्भाव न होता। तेज से प्रकाश उत्पन्न नहीं होता, अपितु प्रादुर्भूत होता है। **जो वस्तु पहले से है, उसका प्रादुर्भाव मात्र होता है, न कि वह नई उत्पन्न होती है।** इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तेत्त्वदर्शिभिः ।।इति ।।

(भ० गीता० २।१६)

"तत्त्वदर्शिभिः" विशेषण दे कर भगवान् इस बात को सूचित करते हैं कि इस वैज्ञानिक रहस्य को तत्त्वदर्शी वैज्ञानिक मनुष्य ही समझ सकते हैं। सामान्य मनुष्य तो दही से घी निकलता देख कर यही कहेगा कि घी, दही से नया उत्पन्न हो रहा है। कहना हमें प्रकृत में यही है कि इच्छा मन की वृत्ति है, मन का धर्म्म है। ऐसी अवस्था में मन, बिना इच्छा के नहीं रह सकता। धर्म्मी की सत्ता धर्म्म पर अवलम्बित है। जिस दिन मन में से इच्छा निकल जायगी उस दिन मन, मन न रह कर परात्पर बन जायगा। धर्म्म से ही धर्म्मी की स्वरूप–रक्षा होती है। ताप, अग्नि का धर्म्म है। इसी ताप से अग्नि के स्वरूप की रक्षा हो रही है। जिस दिन अग्नि में से ताप निकल जायगा, उस दिन अग्नि, अग्नि ही न रहेगा। बस, इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने **"समजायत"** न कह कर "समवर्तत" यह कहा है। अस्तु कहना हमें यही है कि सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम मन से पहले उत्पन्न होने वाली वस्तु है, वह काम ही है, इच्छा ही है। सृष्टि-निर्म्माण में, सृष्ट्युत्पत्ति में, पहली पैदाइश इच्छा है। इच्छा के अनन्तर अन्यान्य सृष्टियां उत्पन्न होती हैं। इसीलिए सृष्टि-उत्पादिका श्रुतियों में सबसे पहले **"सऐक्षत"** ही लिखा रहता है। इतनी दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। संसार के ऊपर दृष्टि डालिए और इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर लीजिए। संसार में जो भी कोई मनुष्य नई चीज बनाता है, उसके पहले उसे इच्छा ही होती है। अपन यह बनावें–बस, पहले इस इच्छा का ही जन्म होता है। यदि इच्छा नहीं होती है, तो नई वस्तु बन ही नहीं सकती है। प्रत्येक नये निर्म्माण में इच्छा सबसे पहले उत्पन्न होती है। अनिच्छा से प्रयत्न हो ही नहीं सकता। बस, इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर–**"कामस्तदग्रेसमवर्त्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्"** यह कहा है। इस मन्त्र-श्रुति को ही लक्ष्य में रख कर कृष्ण यजुर्वेद ब्राह्मण के निर्म्माता तैत्तिरीय महर्षि अपने ब्राह्मणग्रन्थ में लिखते हैं—**"असतोऽधिमनोऽसृज्यत । मनः प्रजापतिमसृजत । प्रजापतिः प्रजा असृजत । तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्च । तदेतच्छ्वोवस्यसं नाम ब्रह्म ।"**(२।२।१०) असत् तो मन था, उसी ने सब कुछ पैदा

किया है । असत् मन ही "**बहुस्याम**" इस इच्छा से संसार को उत्पन्न करता है इसीलिए—"**तदसददेव सन्मनोऽकुरुतस्याम**" यह कहा जाता है ।

इस मन से सर्वप्रथम प्रजापति ही उत्पन्न होता है । मन की इच्छा से उत्पन्न होने वाली पहली वस्तु प्रजापति ही है । हमने बतलाया है कि इस मन से सर्वप्रथम इच्छा का ही जन्म होता है । इस इच्छा के होते ही तदनुकूल प्राण-व्यापार होने लगता है एवं तदनुकूल वाग्-व्यापार होने लगता है । वाग् व्यापार होते ही नई वस्तु बन जाती है । अव्यय मन की इच्छा से अक्षर और क्षर–ये दो प्रकृतियां उत्पन्न होती हैं । अव्यय मन यद्यपि शुद्ध प्रातिस्विक रूपेण सर्वथा निष्कल है, परन्तु मायाबल के कारण चूंकि इसमें इच्छाबल उत्पन्न हो जाता है एवं इच्छाबल से इसमें अन्यान्य बलों का प्रादुर्भाव हो जाता है, उन अन्यान्य बलों से मन ढँक जाता है । उन सारे बलों का चूंकि इस मन पर चुनाव हो जाता है, अतएव इस अव्यय मन को चिदात्मा कहा जाता है । जिन बलों का इस मन पर चुनाव होता है वे बल अन्तश्चिति और बहिश्चिति भेदेन दो स्वरूपों में परिणत हो जाते हैं । आनन्द, विज्ञान ये दो बल अन्तश्चिति नाम से व्यवहृत होते हैं एवं प्राण, वाक्–ये दो बल बहिश्चिति नाम से व्यवहृत होते हैं । मन दोनों चितियों के बीच में रहा करता है । आनन्द, विज्ञान, मुक्ति-साक्षी बल हैं एवं प्राण, वाक्, सृष्टि–साक्षी बल हैं । मन दोनों तरफ रहता है । सृष्टि-साक्षी बल में भी मन शामिल रहता है एवं मुक्ति-साक्षी बल में भी शामिल रहता है । इस प्रकार एक ही निष्कल तत्त्व बलों के कारण, अन्तश्चिति, बहिश्चिति के कारण आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् इन पांच कलाओं में परिणत हो जाता है । इन पांचों में से जो प्राण है उससे अव्ययमन अक्षर की सृष्टि करता है एवं वाक् से क्षर की सृष्टि करता है । अव्ययमन की इच्छा से प्राण द्वारा अक्षर सृष्टि होती है एवं वाक् द्वारा क्षर सृष्टि होती है ।

मन ही अक्षर बन जाता है, मन ही क्षर बन जाता है । वह अक्षर ब्रह्म, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम–ये पाँच कलाएँ रखता है । पञ्चकला-समष्टि का नाम ही **अक्षर** है । इन पांचों में से ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र–ये तीन अक्षर तो हृद्य कहलाते हैं । इन तीनों में से जो ब्रह्मा है, वह तो प्रतिष्ठा है जिसके लिए

कि "**ब्रह्मवैतस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा, ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्**" यह कहा है एवं विष्णु आदान करने वाले हैं। अर्क रूप से बाहर जा कर अन्न लाना इस विष्णु का काम है एवं आये हुए अन्न को बाहर फेंकने वाले प्राण का नाम इन्द्र है। जो वस्तु विष्णु द्वारा लाई जाती है, उसका नाम सोम है, जो इन्द्र द्वारा फेंकी जाती है उसका नाम अग्नि है। आग्नेय शरीर-प्राण ही इन्द्र द्वारा बाहर प्रक्षिप्त होता रहता है। इन पाँचों की समष्टि का नाम ही अक्षर है। बस, इस अक्षर से ही उस अव्यय मन पर अन्नादि का चुनाव होता रहता है, जैसा कि आगे जा कर बतलाने वाले हैं। अव्यय मन के सृष्टिसाक्षी प्राण भाग से अक्षर उत्पन्न होते हैं एवं वाक् भाग से क्षर उत्पन्न होता है। यह क्षर सदा अक्षर के साथ बद्ध रहता है एवं अक्षर अव्यय के साथ, अर्थात् पञ्चकल अव्यय के साथ बद्ध रहता है एवं पञ्चकल अव्यय उस श्वोवसीयस निष्कल ब्रह्म में बद्ध रहता है। बस, इन सबकी समष्टि का नाम ही प्रजापति है। उस अव्यय से क्षराक्षर विशिष्ट इस प्रजापति की उत्पत्ति होती है। प्रजापति मन से पृथक् वस्तु नहीं है, अपितु वही मन अक्षर और क्षर प्रजा को उत्पन्न कर उस प्रजा से प्रजापति कहलाने लगता है। अक्षर और क्षर उसकी महिमा हैं। बस, महिमाविशिष्ट मन को "प्रजापति" कहते हैं एवं महिमापहित प्रजापति को "मन" कहते हैं। प्रजापति जो एक नाम सुना जाता है यह इसी मन की महिमा है। यदि मन नहीं होता तो अक्षर–क्षर प्रजा उत्पन्न नहीं होती। प्रजा उत्पन्न नहीं होती तो प्रजापति का स्वरूप ही नहीं बनता। प्रजा से ही प्रजापति कहा जाता है। इस प्रजापति व्यवहार का जनक चूंकि यही मन है, अतएव "मनः प्रजापतिमसृजम" कह दिया गया है। प्रजापति मन से अतिरिक्त है, इस भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिए। प्रजा को पेट में ले कर जब मन को देखेंगे तो उसे प्रजापति कहेंगे एवं प्रजापहित देखेंगे तो मन कहेंगे। तात्पर्य यही है कि षोडशी आत्मा का नाम ही प्रजापति है। अन्यथा क्षराक्षर की समष्टि का नाम ही पुरुषप्रजापति है। पांच अव्यय की कला हैं, पांच अक्षर की कला हैं, पांच क्षर की कला हैं एवं १६ वाँ परात्पर है। इसीलिए इस प्रजापति को "**षोडशी**" कहा जाता है। इस प्रजापति का स्वरूप उसी श्वोवसीयस मन से बना है। मन की इच्छा से आनन्द, विज्ञान, प्राण, वाक् इन अन्तश्चितियों–बहिश्चितियों का जन्म हुआ है, एवं मन की इच्छा से ही प्राण-

वाक् इन सृष्टिसाक्षी बलों से पञ्चकलोपेत अक्षर और पञ्चकलोपेत क्षर का जन्म हुआ है। इनकी सृष्टि का नाम ही प्रजापति है। बस इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

असतोऽधिमनोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिमसृजत।

यह प्रजापति इस मन में ही प्रतिष्ठित रहता है। यह मन ही इस प्रजापति की परम प्रतिष्ठा है। हमने बतलाया है कि मन से पाँच कलाएँ उत्पन्न होती हैं एवं पाँचों में से प्राण से अक्षर उत्पन्न होते हैं एवं अक्षर से वाक् द्वारा क्षर उत्पन्न होते हैं। क्षर से विकारक्षर उत्पन्न होते हैं एवं विकार क्षरों से यज्ञक्षर उत्पन्न होते हैं। इस सृष्टि क्रम में उत्तरोत्तर सृष्टि की पूर्व-पूर्व सृष्टि प्रतिष्ठा है। यज्ञक्षर की प्रतिष्ठा विकारक्षर है। विकारक्षर की प्रतिष्ठा आत्मक्षर है। आत्मक्षर की प्रतिष्ठा अक्षर है। अक्षर की प्रतिष्ठा प्राण है एवं प्राण की प्रतिष्ठा मन है। इस प्रकार से पूर्व-पूर्व अपने से पर सृष्टि की प्रतिष्ठा है। परन्तु इन सबको परम प्रतिष्ठा तो वही मन है। मन न हो तो सबकी प्रतिष्ठा उखड़ जाय। मन ही तो इन सुप्रतिष्ठाओं का आलम्बन है। बस, इसी अभिप्राय से "परम" कहा है। प्रजापति की, अर्थात् पञ्चकलोपेत अव्यय क्षर-अक्षर की अन्तिम प्रतिष्ठा तो वही मन है। संसार में जो कुछ भी है, वह उस पर-मन में ही प्रतिष्ठित है। इसी पर-आलम्बन के लिए श्रुति कहती है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

यह जो वाक् से उत्पन्न होने वाला क्षर है, वह आत्म, विकार और यज्ञ भेदेन तीन प्रकार का है। आत्मक्षर से प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न—ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। ये पाँचों अलग-अलग नहीं रहते। पाचों, पांचों में आहुत हो जाते हैं। बस इसी का नाम सर्वहुत यज्ञ है। इस सर्वहुत यज्ञ से ही पांच यज्ञक्षर उत्पन्न होते हैं। अपञ्चीकृत प्राण, आप, वाक्, अन्नाद, अन्न—ये पांच विकार क्षर कहलाते हैं। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि प्राण, ब्रह्मा का विकार है; आप, विष्णु का विकार है; वाक्, इन्द्र का

विकार है; अन्नाद, अग्नि का विकार है; अन्न, सोम का विकार है। ये पांचों उन पांचों के विकार हैं अतएव इन्हें हम विकारक्षर कहने के लिए तैयार हैं। इन पांचों की परस्पर आहुति से पञ्चीकृत पाँच क्षर उत्पन्न होते हैं। आहुति को ही यज्ञ कहते हैं अतएव पञ्चीकृत क्षरों को हम यज्ञक्षर कहने के लिए तैयार हैं। पञ्चीकृत यज्ञक्षर ही स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी– इन नामों से व्यवहृत होते हैं। बस, सारे देवता और सारे भूत इन्हीं यज्ञक्षरों से उत्पन्न होते हैं। आत्मक्षर से ही यह भूत-दैवत प्रजा उत्पन्न होती है। आत्मक्षर से प्रजापति ही अभिप्रेत समझना चाहिए। सारे देवता और सारे भूत इसी षोडशी आत्मा से–पुरुष प्रजापति से–उत्पन्न होते हैं। प्रजापति से देवता और भूत, अर्थात् विकार और यज्ञ क्षर एवं स्वयं प्रजापति, यह सारा प्रपञ्च उसी अव्यय मन में प्रतिष्ठित रहता है। वह अव्यय मन ही इस सारे प्रपञ्च की परम प्रतिष्ठा है—

"**प्रजापतिः प्रजा असृजत। तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्च।**" सर्वबलविशिष्ट जो रस है, जिसे कि हमने परात्पर बतलाया है, वह सर्वथा असीम है। असीम से सृष्टि नहीं हुआ करती, जैसा कि पूर्व के सत्य कृष्ण रहस्य प्रकरण में विशदरूपेण बतला दिया गया है। यह परात्पर सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से शून्य है। एक रूप है। न बढ़ता है, न घटता है। अतएव इससे सृष्टि नहीं हो सकती। परन्तु जो मायावच्छिन्न रस है, जिसे कि मन कहा है, वह परिच्छिन्न है। अतएव सृष्टि इसी से होती है। यही मन, यही पुरुष प्रजापति, उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। मन उत्तरोत्तर नए-नए उत्तमोत्तम स्वरूपों में परिणत होता जाता है। नई-नई वस्तुएँ मन से उत्पन्न होती रहती हैं। सृष्टि का जनक यही मन है, अतएव इसे "**श्वोवस्यसं मन**" कहते हैं। "**उत्तरोत्तरं वसीयः अतिशयेन श्रेष्ठं श्वोवस्यसम्**" यही "**श्वोवस्यसं ब्रह्म**" की व्युत्पत्ति है।

इसी श्वोवसीयस् मन से सारी सृष्टि उत्पन्न होती है। इस मन की आनन्द, विज्ञान, प्राण, वाक्-ये चार कलाएं हैं। इन चारों में से आनन्द, विज्ञान मुक्तिसाक्षी हैं, प्राण, वाक् सृष्टिसाक्षी हैं। मन जब प्राण-वाक् की ओर चला जाता है, तो सृष्टि-निर्म्माण होने लगता है एवं यही मन जब विज्ञान

और आनन्द की ओर झुक जाता है, तो मुक्तिसाक्षी बन जाता है। इस प्रकार एक अव्यय, सृष्टि और मुक्ति–इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। आनन्द, विज्ञान, मन–ये मुक्ताव्यय है, मन, प्राण, वाक्–ये सृष्टाव्यय हैं। आनन्द, विज्ञान, मन, प्रविष्टब्रह्म हैं; मन, प्राण, वाक् सृष्टब्रह्म हैं। मन, प्राण, वाक् कर्म्म हैं, आनन्द-विज्ञान-मन अकर्म्म हैं, ब्रह्म हैं। मन-प्राण-वाक् मृत्यु हैं। आनन्द-विज्ञान-मन अमृत हैं। मन-प्राण-वाक् अज्ञान हैं, आनन्द-विज्ञान-मन ज्ञान हैं। मन-प्राण-वाक् अविद्या हैं; आनन्द-विज्ञान-मन विद्या हैं। इस प्रकार एक ही अव्यय का आधा भाग ब्रह्म है, आधा भाग कर्म्म है। आधा भाग अमृत है, आधा भाग मर्त्य है। दोनों की समष्टि का नाम प्रजापति का शरीर है। इसलिए "**अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनोमर्त्यमासीदर्द्धममृतम्**"–यहा जाता है। मन-प्राण-वाक्, बिना आनन्द-विज्ञान-मन के नहीं रहते। आनन्द-विज्ञान-मन, बिना मन-प्राण-वाक् के नहीं रहते। न कर्म्म को ज्ञान से पृथक् किया जा सकता है, न ज्ञान को कर्म्म से अलग किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में शुद्ध ज्ञानमार्गी और शुद्ध कर्म्ममार्गी क्यों कर ठीक हो सकता है? मन-प्राण-वाक् सृष्टिसाक्षी हैं। इन्हीं से सृष्टि होती है परन्तु आनन्द-विज्ञान-मन इसमें शामिल नहीं रहता यह बात हर्गिज नहीं समझनी चाहिए। आनन्द-विज्ञान के बिना तो सृष्टि हो ही नहीं सकती है। यदि आनन्द नहीं रहता है तो सृष्टि उत्पन्न ही नहीं होती है। स्त्री और पुरुष में यदि परस्पर वैरभाव है, आनन्द नहीं है, तो हर्गिज सन्तानोत्पत्ति नहीं हो सकती है। तात्कालिक आनन्द से यदि गर्भ स्थिति हो जाती है तो बाद में आनन्द के उच्छेद होने से, दुःख के अत्याक्रमण से गर्भपात हो जाता है। जो मनुष्य दुःखी रहता है। वह कुछ भी नहीं कर सकता। करना तो दूर रहा, स्वयं अपना और विनाश कर डालता है। अतएव सृष्टि में, नई पैदाइश में हम अवश्य ही आनन्द को कारण मानने के लिए तैयार हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशति।

आनन्द ही से उत्पत्ति होती है एवं आनन्द ही से स्थिति होती है। जिसके जीवन में आनन्द नहीं है, जो सदा दुःखी रहता है, समझ लो वह शीघ्र

ही मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होना चाहता है। इसी प्रकार विज्ञान भी अवश्य ही सृष्टि में शामिल है। ज्ञान बिना कोई नई चीज बन ही नहीं सकती। नई तस्वीर बनाने के पहले कारीगर अपने ज्ञान में उसका फोटू उतारता है। ऐसा बनाएंगे, इतने दरवाजे रखेंगे, इतनी आलमारियां रखेंगे, इन सारी बातों को वह पहले सोच लेता है। सोचना बुद्धि का काम है। बुद्धि को ही विज्ञान कहते हैं। इसी विज्ञान की बदौलत तो आज संसार में नए-नए आविष्कार हो रहे हैं। ऐसी अवस्था में विज्ञान को सृष्टि के बाहर क्यों कर किया जा सकता है? जो मनुष्य विरक्त चित्त होता है, उससे कोई भी नई चीज नहीं बन सकती। एवमेव जो विज्ञान-शून्य है, मूर्ख है, वह भी नई वस्तु बनाने में सर्वथा असमर्थ ही है। इस प्रकार आनन्द, विज्ञान को अवश्य ही मन-प्राण-वाक् के साथ मानना पड़ता है। एवमेव मन-प्राण-वाक् को आनन्द-विज्ञान-मन के साथ मानना चाहिए। फर्क इतना सा है कि सृष्टि की ओर जाने से मन-प्राण वाक् मुख्य रहते हैं। सृष्ट्युत्पत्ति में मन-प्राण-वाक् मूल हैं एवं आनन्द-विज्ञान सहकारी कारण हैं, जब कि मुक्तिमार्ग में आनन्द-विज्ञान मूल स्तम्भ हैं एवं मन-प्राण-वाक् स्वरूप कर्म्म सहकारी कारण हैं। बिना कर्म्म के मुक्ति हो ही नहीं सकती। इसीलिए-"**न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते**" यह कहा जाता है। इन दोनों कामों का अधिष्ठाता यह श्वोवसीयस मन है। मन ही सृष्टिसाक्षी है, मन ही मुक्तिसाक्षी है। यह मन जब आनन्द-विज्ञान की ओर चला जाता है तो बन्धन तोड़ देता है एवं यही मन जब प्राण वाक् की ओर चला जाता है तो बन्धन में डाल देता है। इसी अभिप्राय भगवान् कहते हैं कि—

न देहो न च जीवात्मानेन्द्रियाणि परन्तप।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥इति॥

(ब्रह्मबिन्दु उप० श्लोक २)

मन तीन प्रकार के होते हैं। तीनों की छाँट करने के लिए तीनों नाम भिन्न-भिन्न रख दिए जाते हैं। जो अव्ययमन है, जो कि सर्वालम्बन है, उसे तो "**श्वोवसीयस ब्रह्म**" कहा जाता है एवं जो सारी इन्द्रियों पर र- वाला मन है उसे प्रज्ञामन कहा जाता है। इन्द्रियां कुल ११ हैं। पांच क- न्द्रियां हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं एवं ११ वां मन है, जो कि सुख-दुःख मोह

अनुभव करता है। ये तीन ही इस इन्द्रियमन के काम हैं। इन ग्यारहों इन्द्रियों पर वह प्रज्ञामन व्याप्त रहता है। चूं कि सारी इन्द्रियों यह अपना प्रभाव रखता है, अतएव इसे सर्वेन्द्रिय मन भी कहा जाता है। इन्द्रियां नियत विषय का ही अनुभव करती हैं एवं यह मन सारी इन्द्रियों पर रहता है, सब का अनुभव करता है, अतएव इसे अतीन्द्रियमन भी कहा जाता है। इसी प्रज्ञानमन के लिए श्रुति कहती है—

सुषारथिरश्वानिव यो मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव ।
हृत् प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु ।। शु.यजु.३४।६

जिस प्रकार अच्छा होशियार सारथी अत्यन्त बलशाली चपल घोड़ों का बागडोर से निधड़क होकर संचालन करता है, ठीक उसी प्रकार यह मन इन चञ्चल इन्द्रियों वाले अतएव चञ्चल मनुष्यों को ठीक रास्ते पर ले जा रहा है, जो कि मन हृदय में प्रतिष्ठित है और यविष्ठ है अर्थात् बहुत तेज दौड़ने वाला है। ऐसा जो मेरा मन (प्रज्ञा) है, वह शुभ संकल्पयुक्त वने। श्रुति इस मन के लिए अजिरं कह रही है। श्रुति कह रही है, मन बड़ा भारी मैदान है। वास्तव में मैदान ही है। इसी मैदान में सारी इन्द्रियाँ रहती हैं। प्रज्ञामन ही सारी इन्द्रियों की प्रतिष्ठा है। मन बाहर दौड़ा करता है। बड़ी दूर तक मन दौड़ लगाता है। इससे काम ही अभिप्रेत समझना चाहिए। मन बाहर नहीं जाता। मन की वृत्ति—इच्छा—बाहर जाती है। मन तो हृत् प्रतिष्ठित है। जिस दिन यह निकल जायगा, उस दिन शरीर ही न रहेगा। अतएव "**यज्जाग्रतोदूरमुदैतिदैवं**" (शु.यजु. ३४।१) इत्यादि मंत्र से वृत्ति का गमन ही अभिप्रेत समझना चाहिए, इस प्रज्ञामन का भी अधिष्ठाता वह श्वोवसीयस मन है। प्रज्ञान ही का नहीं, सारे प्रपञ्च का अधिष्ठाता वही निष्कल मन है। वही प्रजापति को उत्पन्न करता है। वही प्रजापति दैवत और भौतिक प्रजा को उत्पन्न करता है। एवं यह सारा प्रपञ्च प्रजा और प्रजापति (षोडशी और विकार यज्ञक्षर) उसी मन में प्रतिष्ठित रहते हैं। यह मन उत्तरोत्तर नई-नई सृष्टियां बनाया करता है। अतएव इसे श्वोवसीयस मन कहा जाता है। अन्य श्रुतियों में इसे "**श्वोवस्यस**" नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। बस, इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—"**कामस्तदग्रेसमवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्**" इति मंत्र श्रुतिमपेक्षमाणास्तैत्तिरीया आहुः—

असतोऽधिमनोऽसृज्यत । मनः प्रजापतिमसृजत । प्रजापतिः प्रजा असृजत । तद्वा इदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्च । तदेतच्छ्वोवस्यसं ब्रह्म । (तै. २।२।६)

यह श्वोवसीयस मन ज्ञान-कर्म्ममय है । सारी सृष्टि का बीजभूत ज्ञान-कर्म्ममय जो यह श्वोवसीयस अव्याकृत मन है, वही मायाबलात्, इच्छाबलात् ज्ञान और कर्म्म से व्याकृत हो जाता है । ज्ञान कहते हैं रस को, कर्म्म कहते हैं बल को। मन नाम है परिच्छिन्न रस का । यह रस, बलाविनाभूत है । रस, बल के बिना नहीं रहता है । दोनों अविनाभूत हैं । दोनों जब उन्मुग्धावस्था में रहते हैं तो निष्कल मन नाम से व्यवहृत होते हैं । द्वैतभाव उत्पन्न करने वाला बल है । जब बल ही उन्मुग्ध हो, तो द्वैत हो किससे ? अतएव ज्ञान-कर्म्म की जो उन्मुग्धावस्था है, तत्स्वरूप जो मन है, उसे हम अव्याकृत कहने के लिए तैयार हैं । पत्ते और केसर की जो उन्मुग्धावस्था है, उसी का नाम गुलाब की कली है । इस समय वह एक है । परन्तु समय पा कर वही कली उद्बुद्ध होती हुई पत्ते और कली—इन दो भावों में परिणत हो जाती है । पत्ते और केसर कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं हुई है, अपितु उन्मुग्ध से उद्बुद्ध भाव का नाम ही पत्ते और केसर हैं । बस, इसी प्रकार सर्वजगत् बीजभूत अव्याकृत ज्ञानकर्म्ममय अर्थात् उन्मुग्ध ज्ञानकर्म्ममय जो श्वोवसीयस मन है, वही समय पा कर इच्छा-बल के कारण इन ज्ञान कर्म्मों से व्याकृत हो जाता है । एक ही अव्याकृत तत्त्व विविधाकार में परिणत हो जाता है । एक ही तत्त्व सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी, परमेष्ठी, ग्रह, नक्षत्र, वन, पर्वत, नदी, मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि, कीट इत्यादि-इत्यादि अनन्तानन्त भावों में परिणत हो जाता है । अग्नि का सम्बन्ध जब तक फुलझड़ी के साथ न करवाया जाय, तब तक फुलझड़ी एक है । जहां अग्नि-स्पर्श हुआ कि उसमें से हजारों फूल निकलने लगते हैं । तथैव जब तक इच्छा-स्वरूप सृष्टि साक्षी बल की ओर मन नहीं झुकता है, तब तक एक रहता है । इस समय इस मन के पेट में ज्ञान-कर्म्म दोनों उन्मुग्ध रूप से बंटे रहते हैं । मन की इसी अवस्था का नाम "अव्याकृत" अवस्था है । परन्तु सृष्टिसाक्षी बल से सम्बन्ध होते ही, यह मन ज्ञान-कर्म्म से व्याकृत हो जाता है, विविधाकार में परिणत हो जाता है—**"इदं च श्वोवस्यसं मनः सर्वसृष्टि बीजभूतमव्याकृत ज्ञानकर्म्ममयं कालेन ज्ञानकर्माभ्यां व्याकृतं भवति ।**

यह मन तीन प्रकार से व्याकृत होता है। **उक्थ, अर्क, अशिति**–ये तीन ही इस मन की व्याकृतियां हैं। एक ही सृष्टि-साक्षी बल के कारण उक्थ, अर्क अशिति—इन तीनों स्वरूपों में परिणत हो जाता है। तीनों ही के नाम भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इन तीनों में जो उक्थ है, उसी का नाम मन है, अर्क का नाम काम है एवं अशिति का नाम चयन है। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्, अव्यय की ये पांच कलाएं बतलाई हैं। इन पांचों में से आनन्द, विज्ञान, मन--ये मुक्तिसाक्षी हैं। मन, प्राण, वाक्—ये सृष्टिसाक्षी हैं। आनन्द, विज्ञान, मन वाला जो मन है, वह सर्वथा निर्विषयक है, असंग है, इच्छारहित है। एवं मन, प्राण, वाक् वाला जो सृष्टिसाक्षी बल है, वह सविषयक है, ससंग है, इच्छायुक्त है। इसी मन का उक्थ, अर्क, अशिति से सम्बन्ध है। मन, प्राण, वाक् वाला जो मन है, वही उक्थ, अर्क, अशिति–इन तीन स्वरूपों में व्याकृत हो जाता है। इन तीनों में उक्थ इसी मन का नाम है। इसी मन से इच्छा उठती है अतएव इसे **'उक्थ'** कहा जाता है। एवं जो इच्छा उठ कर बाहर निकलती है, उसी का नाम **अर्क** है। उसी का नाम किरण है। मन से इच्छा–स्वरूप बाहर निकलने वाली जो रश्मियां हैं उन्हीं का नाम अर्क है एवं जहां से ये रश्मियां निकलती हैं उसी का नाम उक्थ है। ये रश्मियां, इच्छाएं जिस विषय को अथवा अन्न को पकड़ कर, वापस ला कर, इसी मन पर जमा कर देती हैं, उसी का नाम अशिति है। इच्छा किसी विषय की होती है, इच्छा निर्विषयिणी कभी नहीं रहती। बस, इच्छा का जो यह विषय है उसी का नाम अन्न है। यह अन्न इसी मन से उत्पन्न हुआ है, जैसा कि तैत्तिरीय श्रुति व्याख्या में बतला दिया गया है। रश्मियां भी अर्थात् अर्क भी, मन ही है एवं उक्थ तो मन है ही। इस प्रकार उक्थ, अर्क, अशिति–इन तीनों को ही हम मन की व्याकृत अवस्थाएं कह सकते हैं। सूर्य्य का जो पिण्ड है, वह उक्थ है, क्यों कि रश्मि यां उसी में से उठ कर चारों ओर फैलती हैं एवं सूर्य्य की जो रश्मियां हैं वे अर्क हैं। इन्हीं का नाम काम है। सूर्य्य अपनी रश्मियों से जिन पदार्थों को (धातु, उपधातु, रस, पानी इत्यादि को) चूस लेता है, उन पदार्थों का नाम ही अशिति है। दीपक की जो लौ है, वह उक्थ है एवं जो चारों ओर निकलने वाली रश्मियां हैं, प्रकाशमण्डल है, वही अर्क है एवं तैल अशिति है **अर्थात् अन्न**

है। हम उक्थ हैं, हमारी जो इच्छाएं हैं वे अर्क हैं एवं जिसे प्राप्त कर इच्छा का अन्त हो जाता है, जो वस्तु इच्छा को शान्त कर देती है, वही अशिति है।

आहवनीयाग्नि उक्थ है, उस की जो ज्वाला है वह अर्क है एवं ऊपर से जो आहुति डाली जाती है, वह अशिति है। निदर्शन मात्र कराया गया है। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में यही तीन पार्ट (भाग, कार्य) समझने चाहिए। छोटे से छोटे एवं बड़े से बड़े पदार्थ में उक्थ, अर्क, अशिति ये तीनों भाव अव्यभिचारीय रहते हैं। इस प्रकार एक ही मन, उक्थ, अर्क, अशिति—इन तीन भावों में परिणत हो जाता है, तीन तरह से व्याकृत हो जाता है। अव्यय को आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् स्वरूप बतलाया है। इनमें जो सृष्टि-साक्षी मन है, जो कि ज्ञानकर्म्मोभयात्मक है, उक्थ, अर्क, अशिति में परिणत होता है। जो रस अभी शुद्ध है, जिस पर कि अन्य वस्तुओं का, अन्य बलों का चुनाव नहीं हैं, वह तो मन ही कहलाता है। इसी मन पर जब इच्छाबल से और-और ग्रन्थियां लग जाती हैं तो मन प्राण-स्वरूप में परिणत हो जाता है। मन की स्थूलावस्था का नाम ही प्राण है एवं प्राण पर जब और बलग्रन्थियाँ लग जाती हैं तो प्राण वाक्–स्वरूप में परिणत हो जाता है। यह जो मन है, उसे इच्छात्मक समझना चाहिए। इच्छा का उक्थ यही मन है एवं इच्छा ही इस का अर्क है एवं जिस विषय से, जिस पदार्थ से इच्छा शान्त हो जाती है, वही अशिति है।

हमने इस प्रकरण में बतलाया है कि पञ्चकल अव्यय के प्राण भाग से अक्षर उत्पन्न होता है एवं वाक् भाग से क्षर उत्पन्न होता है। साथ ही यह भी बतलाया है कि अक्षर द्वारा क्षर का जब उस निष्कल मन पर चुनाव होता है तो वह मन आनन्द, विज्ञान, प्राण, वाक्, इन चार कलाओं से युक्त हो जाता है। यहाँ पर अन्योन्याश्रय की शंका हो सकती है। प्राण–वाक् की चिति हो तब तो प्राण–वाक् से क्षर–अक्षर उत्पन्न हों एवं अक्षर–क्षर उत्पन्न हों तब अक्षर–क्षर चुनाव द्वारा प्राण–वाक् का स्वरूप निर्म्माण करें। परन्तु जब सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह अन्योन्याश्रय हट जाता है। प्राण से अक्षर उत्पन्न होता है एवं वाक् से क्षर उत्पन्न होता है, यह बात हमने समझने

लिए कह दी है। वास्तव में देखा जाय तो यह सारा प्रपञ्च एक कालावच्छेदेन ही उत्पन्न होता है। जहाँ माया का परिच्छेद हुआ कि उसी समय एक कालावच्छेदेन षोडशी का जन्म हो जाता है। पुरुष, बिना प्रकृति के एक सेकण्ड भी नहीं रह सकता। अक्षर और क्षर–दोनों उस अव्यय पुरुष की प्रकृति हैं। इनके बिना पुरुष का स्वरूप ही नहीं बन सकता। अव्यय–अक्षर–क्षर तीनों एक साथ ही जन्म लेते हैं। इनमें पूर्वापर्य्य नहीं है। चूं कि इन तीनों में आलम्बन अव्यय है, निमित्त कारण अक्षर है, समवायि कारण क्षर है, अतएव इस क्रम को लक्ष्य में रखकर, क्रमिक भाव को समझाने के लिए, उसके बाद यह पैदा हुआ, उसके बाद वह पैदा हुआ, यह कह दिया गया है। वास्तव में इनमें जरा भी पौर्वापर्य्य नहीं है। प्रसंगगत इतना और समझ लेना चाहिए कि अक्षर, ज्ञान और प्राणमय है एवं क्षर, वाक् और आनन्दमय है। अक्षर ही निमित्त कारण है। इसके प्राण और ज्ञान दो ही काम हैं। प्राण-व्यापार को कर्म्म कहते हैं। चूं कि अक्षर निमित्त कारण है एवं ज्ञानकर्म्मोभयात्मक है, अतएव संसार के यच्चयावत् कार्य ज्ञान और कर्म्म मिश्रित रहते हैं। ज्ञान और कर्म्म से अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म्म से ही प्रत्येक कार्य्य होता है। हरेक काम में अकल (अक्ल) लड़ाने की और कोशिश करने की आवश्यकता है। न खाली कोशिश से काम हो सकता है न खाली अकल लड़ाने से ही कुछ हाथ आ सकता है। दोनों मिलेंगे तभी कोई काम होगा। अतएव हम कह सकते हैं कि अक्षर ज्ञानकर्म्मोभयात्मक है। कर्म्म से प्राण ही अभिप्रेत समझना चाहिए। क्षर, वाक् और आनन्दमय है। वाक् कहते हैं वस्तु को और आनन्द सर्वानुभूत है ही है। वस्तु का और आनन्द का सम्बन्ध क्षर से है। संसार में जो भी मनुष्य कोई काम करता है, वह इन दो की प्राप्ति के लिए ही करता है। **"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते"**–यह अटल सिद्धान्त है। प्रयोजन आनन्द और वाक् अर्थात् वस्तूपलब्धि दोनों ही हैं। न जिस काम से कुछ वस्तु ही मिलती है या न जिस से कुछ आनन्द ही आता है, उसे कोई भी करने के लिए तैयार नहीं होता। आनन्द भी एक वस्तु है। वस्तु से आनन्द आता है अतएव वस्तु अर्थात् वाक् और तज्जन्य आनन्द–दोनों को हम "क्षर" कहने के लिए तैयार हैं। इसी तरह इसको यों भी समझा जा

सकता है कि मन वृक्ष है एवं विज्ञान और प्राण पुष्प हैं। आनन्द और वाक् (अर्थात् वस्तु) फल हैं।

विज्ञान का फल आनन्द है, प्राण का फल वाक् है, सम्पत्ति है। जिसमें जितनी ही विज्ञान मात्रा अधिक होगी उसे उसमें उतना ही अधिक आनन्द आएगा। स्त्रियों का एक समूह अपनी भाषा में गीत गाता जा रहा है। इससे आनन्द उन्हीं मनुष्यों को आएगा जो कि उस भाषा का ज्ञान रखते हैं। जो उस भाषा से अपरिचित हैं, वे मुग्ध बन कर बैठे रहेंगे। उन्हें उससे जरा भी आनन्द नहीं आ सकता। ज्ञान में आनन्द है। घर में गड़ी हुई सम्पत्ति का यदि हमें ज्ञान नहीं है, हमें मालूम नहीं कि हमारे घर में इतनी सम्पत्ति गड़ी हुई है, तो उस सम्पत्ति से हमें जरा भी आनन्द नहीं आ सकता। ज्ञान में आनन्द है। एवमेव प्राण से वस्तु (सम्पत्ति) प्राप्त होती है। जिसमें अधिक प्राणमात्रा है, जो महाप्राण है, सम्पत्ति अपने आप उसकी तरफ खिंच आएगी। सबल मनुष्य के सामने, उद्योगी वीर के सामने सम्पत्ति हाथ जोड़े खड़ी रहती है। परन्तु जो निर्बल होता है, आलसी होता है, उसकी सम्पत्ति को दो थप्पड़ लगा कर उसके सामने से ही चाहे जो उठा ले जाता है। अतएव हम कह सकते हैं कि प्राण ही सम्पत्ति का अधिष्ठाता है। मन–वृक्ष के विज्ञान–वाक् फूल हैं, आनन्द और वस्तु (सम्पत्ति) फल हैं। अक्षर से विज्ञान, प्राण का सम्बन्ध है एवं क्षर से आनन्द, वाक् का सम्बन्ध है। यह भी हमने समझने के लिए ही कह दिया है। वस्तुतः ये सब एक ही है। आनन्द–विज्ञान–मन–प्राण–वाक् पाँच नहीं हैं अपितु आनन्द, ज्ञान, सत्ता–तीन ही हैं। तीन भी कहने को तीन हैं। वास्तव में तीनों एक ही हैं। एक ही मन तीन तरह से व्याकृत हो जाता है। जो कन्दल है, उसका नाम उक्थ है, रश्मियों का नाम अर्क है, रश्मियां जिन विषयों से शान्त हो जाती हैं, वे अशिति हैं। इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर कहते हैं—"इदं च श्वोवसीयसं मनः सर्वसृष्टि बीजभूतमव्याकृत ज्ञानकर्ममयं कालेन ज्ञानकर्माभ्यां व्याकृतं भवति। तदिदं त्रेधा व्याक्रियते–उक्थमर्कोऽशितिश्चेति। उक्थं मनोनाम अर्कं कामो नाम।"

उक्थ का स्वरूप बतला दिया गया। अब अर्क का स्वरूप बतलाते हैं। अर्क का ही दूसरा नाम है–काम। इच्छा-रश्मियों को ही काम कहते हैं। ज्ञान-

कर्म्म की अविनाभावेन प्रवृत्ति से जो मिथुन बनता है, उसी का नाम काम है ज्ञानकर्म्म के बिना कोई भी काम नहीं हो सकता, यह हम पूर्व में बतला आए हैं। परन्तु इस ज्ञान-कर्म्म में पौर्वापर्य्य अवश्य हुआ करता है। कहीं ज्ञान पहले होता है, कर्म्म बाद में होता है, उदाहरणार्थ मकान बनाना, रेल बनाना, तार बनाना, जहाज बनाना, पुस्तक बनाना इत्यादि। कारीगर मकान बनाने से पहले उसे अपने ज्ञान में उतारता है। यों बनाएँगे, त्यों बनाएँगे इस प्रकार से ज्ञानीय जगत् का, खयाली जगत् का निर्म्माण करता है। तदनन्तर उस ज्ञानमय जगत् की कल्पना के अनुसार वास्तविक जगत् में चूना-मिट्टी भर कर, मकान के यथार्थ स्वरूप द्वारा ज्ञान से बहिर्जगत् में अपने ज्ञानीय जगत् को स्थित कर देता है; अन्तर्जगत् को कर्म्म द्वारा बहिर्जगत् की वस्तु बना देता है। पुस्तक बनाने के कर्म्म के पहले ज्ञान-व्यापार होता है। यदि ज्ञान न हो तो आगे अक्षर लिखा ही न जाए। बस, ऐसे जितने भी काम हैं, उन सबमें ज्ञान पहले है, कर्म्म बाद में है। पुस्तक पढ़ना, जंगल में परिभ्रमण करना इत्यादि कार्य्यों में कर्म्म पहले है, ज्ञान बाद में है। पुस्तक पढ़ने से ज्ञान उत्पन्न होता है। पढ़ना कर्म्म है, इसका फल ज्ञान है। जंगल में घूमने से औषधियों का ज्ञान होता है। ऐसे-ऐसे और जितने भी कार्य्य हैं उन सबमें कर्म्म पहले होता है, ज्ञान बाद में होता है। इस प्रकार संसार में ज्ञान-कर्म्म का पूर्वापर्य्य रहता है। परन्तु जहाँ ज्ञान-कर्म्म का पूर्वापर्य्य न हो, दोनों एक साथ मिल कर अपना काम करें, बस इस मिलित अवस्था का नाम ही 'काम' है। ज्ञान-कर्म्म दोनों अविनाभूतत्वेन जब किसी काम के लिए प्रवृत्त होते हैं तो उन ज्ञान–कर्म्मों की मिथुनावस्था का नाम ही काम है। वास्तव में यही बात होती है। इच्छा में एक प्रकार का विकास होता है। बस, इच्छा में जो यह विकास होता है, जो कि स्वानुभवैकगम्य है, वह ज्ञान का हिस्सा है क्योंकि विकास ज्ञान का ही धर्म्म है एवं इच्छा स्वयं क्रिया है। इस प्रकार काम में ज्ञान-कर्म्म दोनों एककालावच्छेदेन साथ रहते हैं। इसीलिए "ज्ञानजन्याभवेदिच्छा, इच्छाजन्या भवेत् कृतिः" यह कहा जाता है। इसमें इच्छा को बीच में डाला है। ज्ञान, शुद्ध ज्ञान है; कृति, शुद्ध कर्म्म है। इन दोनों के बीच की चीज है इच्छा। इच्छा में ज्ञान भी है, कर्म्म भी है। इसीलिए तो इसे बीच में डाला है। इच्छा कर्म्मस्वरूप; कर्म्म, ज्ञानमय है एवं इच्छा में रहने वाला

विकास-स्वरूप कर्म्ममय है। इच्छा में, काम में, दोनों का साहचर्य्य है। इच्छा में ज्ञान-कर्म्म दोनों रहते हैं।

"ज्ञानकर्मणोरविनाभावेन प्रवृत्या यन्मिथुनं सकामः"–पूर्व के लक्षण से ज्ञानकर्म्म के साहचर्य्य का नाम ही **'काम'** है– यह सिद्ध होता है। पुस्तक बनाना और पढ़ना यहां पर भी, ज्ञानकर्म्म का साहचर्य तो है ही। ज्ञान-कर्म्म दोनों के साहचर्य्य से ही पुस्तक बनती है एवं दोनों के साहचर्य्य से ही पठन–पाठन होता है। बस, इच्छा में, काम में, कोई ऐसा ही साहचर्य्य न समझ ले-इसलिए काम का दूसरा लक्षण बतलाते हैं। ज्ञान क्रिया के पौर्वापर्य्य की जरा भी अपेक्षा न रख कर जो इन दोनों का साहित्य है, उसी का नाम काम है। पुस्तक बनाना, पुस्तक पढ़ना, यहाँ भी ज्ञान-कर्म्म का साहित्य, ज्ञान-कर्म्म का साहचर्य्य, मौजूद है। परन्तु यह साहचर्य्य पौर्वापर्य्यमूलक है। इसमें ज्ञान-कर्म्म का पूर्वापर भाव मौजूद है। परन्तु काम हम उसे ही कहेंगे जिसमें ज्ञान-कर्म्म के पौर्वापर्य्य साहचर्य्य की अपेक्षा ही न हो। पौर्वापर्य्यानिपेक्ष जो ज्ञान-कर्म्म का साहित्य है, ज्ञान-कर्म्म का साहचर्य्य है, उसे ही हम काम कहेंगे–**"ज्ञानक्रिययोः पौर्वापर्य्यमनपेक्ष्य साहित्यमिच्छा स कामः"**

अथवा तीसरी तरह से भी हम इस काम का निर्वचन कर सकते हैं। ज्ञानसूत्र से होने वाली जो कर्षण क्रिया है, उसे ही हम **"काम"** कहने के लिए तैयार हैं। कर्षण-व्यापार मिश्रित जो ज्ञान है, वही काम कहलाता है। ज्ञान-कर्म्म-समष्टि का नाम काम है, इच्छा है। परन्तु यच्चयावत् ज्ञान-कर्म्म-समष्टि का नाम इच्छा नहीं है अपितु कर्षणकर्म्मयुक्त जो ज्ञान है, उसी का नाम इच्छा है। जिस ज्ञान-सूत्र से कर्षण क्रिया होती है, तन्मिश्रित ज्ञान का नाम ही काम है। इच्छा से एक प्रकार का खिंचाव होता है। यदि यह खिचाव अति प्रबल होता है तो अवश्य वह वस्तु खिंच कर इसमें आ ही मिलती है। इच्छा दृढ़ होनी चाहिए, वह अवश्य ही पूरी होगी। **"जिन ढूंढ़ा तिन पाइया गहरे पानी पैठ"**–यह बात सोलह आना ही नहीं अपितु सत्रह आना सही है। कहना हमें यही है कि कर्षण-कर्म्म युक्त जो ज्ञान है उसी का अथवा ज्ञानसूत्र से जो होने वाली कर्षण क्रिया है, उसी का नाम काम है। सारे प्रपञ्च से यही सिद्ध होता है कि पौर्वापर्य्यानिपेक्ष जो ज्ञानकर्म्म का समुच्चय है, उसी का नाम काम है—

ज्ञानसूत्रेण कर्षणक्रिया कामः । स इत्थं ज्ञानकर्मणोः समुच्चयः कामः ।

इच्छा का नाम काम क्यों पड़ा, प्रसङ्गगत यह और बतला देते हैं। बृहदारण्यक श्रुति में ब्रह्म तीन प्रकार के माने गये हैं। एक का नाम है कं ब्रह्म, दूसरे का नाम है खं ब्रह्म, तीसरे का नाम है रं ब्रह्म। संसार के प्रत्येक प्राणी में आवपन, अन्नाद और अन्न–ये तीन भाव लागू रहते हैं। एक आवपन ब्रह्म होता है, एक अन्नाद ब्रह्म होता है, एक अन्न ब्रह्म होता है। बस, इन तीनों के अलावा संसार में कोई चौथी वस्तु ही नहीं है। आवपन ब्रह्म का ही नाम आलम्बन ब्रह्म है। अन्नाद ब्रह्म का नाम भोक्ता ब्रह्म है एवं अन्न ब्रह्म का नाम भोग्य ब्रह्म है। शरीर आलम्बन ब्रह्म है, आत्मा अन्नाद ब्रह्म है एवं आत्मा के सारे भोग्य पदार्थ अन्न ब्रह्म हैं। इस शरीर–आलम्बन ब्रह्म में अन्नाद स्वरूप, भोक्तास्वरूप आत्मब्रह्म प्रतिष्ठित होकर अन्न ब्रह्म को खाया करता है। जिनको खाया करता है, वे अन्न कुल सात ही प्रकार के हैं–१ मिट्टी (अन्न) २–पानी ३–आग (प्रकाश) ४–हवा ५–आवाज ६–क्रिया ७–ज्ञान। बस प्राणिमात्र के कुल सात ही अन्न हैं इसीलिए—

"यत्सप्तान्नानि तपसा जनयत् पिता" यह कहा जाता है। इन सातों में से मिट्टी और पानी ये दो अन्न तो परिश्रमसाध्य हैं। मिट्टी को पहले जौ, गेहूँ, चने इत्यादि स्वरूपों में परिणत करना पड़ता है। बाद में इन्हें पीसा जाता है, छाना जाता है, पानी से ओसना (गूंदना) पड़ता है। चूल्हा जला कर इसका परिपाक किया जाता है। इस प्रकार इतने परिश्रम के बाद यह मिट्टी खाने लायक बनती है। एवमेव पानी के लिए भी कूआ खोदना पड़ता है अथवा टोंटी (नल) से लाना पड़ता है। इस प्रकार दो अन्न परिश्रम-साध्य हैं एवं अवशिष्ट–ज्ञान, क्रिया, वायु, प्रकाश, वाक् (आवाज) ये पांच अन्न परमेश्वर के खजाने से हमें हर पल मिला करते हैं। ज्ञान भी हमारी खूराक है। जिस वस्तु को जानने की इच्छा होती है, यदि हम उसे जान जाते हैं तो एक प्रकार की तृप्ति होती है। अतएव हम ज्ञान को अवश्य ही अन्न कहने के लिए तैयार हैं। एवमेव क्रिया भी हमारी खूराक है। जब तक हाथ-पैर चलते रहते हैं, तभी तक जिन्दगी है। जिस दिन हाथों-पैरों का चलना बंद

हो जाएगा, उसी दिन इतिश्री हो जाएगी। इसी प्रकार वायु भी ? है। वायु न मिले तो अभी दम घुट जाय। प्रकाश भी हमारी खूराक है। हमारा आत्मा सूर्य्य से बना है। 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"—यह सिद्धांत है। चूं कि हमारा आत्मा प्रकाशस्वरूप सूर्य्य से बना हुआ है अतएव सदा प्रकाश की चाह रखता है। यह प्रकाशसूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, वाक्, आत्मा भेदेन पांच प्रकार का है। पांचों ही प्रकाश मनुष्य की जिन्दगी हैं। दिन में आप डरपोक से डरपोक मनुष्य को भी जंगल में भेज दीजिए, वह नहीं डरेगा। परन्तु रात्रि में एकला (अकेला) जाता हुआ डरेगा। यदि चाँद की रोशनी हुई तो भी चला जाएगा। यदि वह भी न हुई तो अग्नि का अथवा लालटेन का सहारा अवश्य ही लेना पड़ेगा। यदि वह भी न हुई तो दूसरे आदमी को अवश्य ही साथ लेगा। घोर जंगल में जब मनुष्य डरने लगता है उस समय यदि वह किसी अन्य मनुष्य की आवाज सुन लेता है, तो उस डरते हुए मनुष्य में एकदम बल आ जाता है। परन्तु जब कोई बोलने वाला भी नहीं होता तो उसे अपनी आत्मज्योति से काम लेना पड़ता है–अरे, किसका डर है ? अभी कोई आ जाए तो उससे दो-दो हाथ करेंगे–इस प्रकार अपने चित्त को धीर बँधाता रहता है। परन्तु जिसका आत्मा निर्बल होता है वह ऐसे समय में एकदम शरीर त्याग कर देता है। इसीलिए—"पञ्चज्योतिरयं पुरुषः" यह कहा जाता है। अस्तु, कहना हमें यही है कि प्रकाश भी प्राणिमात्र का अन्न है। इसी प्रकार से वाक् (आवाज) भी अन्न है, यह बात भी सिद्ध हो जाती है। बस, इन सातों अन्नों को वह अन्नाद ब्रह्म खाया करता है। खाने वाला जिस स्थान पर बैठ कर खाता है, उस स्थान का नाम है आवपन एवं खाने वाले का नाम है अन्नाद एवं जिसे खाता है, उसका नाम है अन्न। तीनों में से यदि एक भी नहीं रहता तो पदार्थ का स्वरूप ही नहीं बनता है। आत्मा जब तक शरीरालम्बन पर स्थित है तभी तक वह अन्न खा सकता है। बस, इन आवपन, अन्नाद, अन्न तीनों ब्रह्मों को ही क्रमशः खं ब्रह्म, रं ब्रह्म, कं ब्रह्म–इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। आकाश ही भोक्ता का आलम्बन है। आत्मा दहराकाश में ही प्रतिष्ठित रहता है जो दहराकाश, शरीराकाश के केन्द्र में प्रतिष्ठित है। बस, इसीलिए इस आत्मा के आलम्बन ब्रह्म को "**खंब्रह्म**" कहा

जाता है । इस दहराकाश में, इस मैदान में, अन्न ले-ले कर आत्मा अर्थात् अन्नाद ब्रह्म रमण किया करता है । अतएव 'रमते'—इस व्युत्पत्ति से इस अन्नाद ब्रह्म को "रंब्रह्म" कहा जाता है । कं कहते हैं सुख को । सुख मिलता है अन्न से, अतएव हम अन्न को कं कह सकते हैं । जिसको लेकर यह आत्मा सुखी होता है उसी का नाम है अन्न ब्रह्म । अन्न ही से सुख मिलता है । सुख ही को कं कहते हैं । अतएव अन्नब्रह्म को "कंब्रह्म" कहा जाता है । कं नाम है पानी का । पानी ही को सोम कहते हैं एवं आत्मा अन्नाद स्वरूप है, अग्नि है । इसमें सोम की आहुति होती रहती है । इसी सोम से आत्मा रमण करता है, अतएव आत्मा को "रंब्रह्म" कहा जाता है । सोम से अर्थात् कं से रमण करता है, अतएव सोम स्वरूप अन्न को कंब्रह्म कहा जाता है । कहने का तात्पर्य यही है कि आवपन का नाम खंब्रह्म है, अन्नाद का नाम रंब्रह्म है एवं अन्न का नाम कंब्रह्म है ।

हमने अव्यय की आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् ये पांच कलाएं बतलाई हैं । इन पांचों में जो मन-प्राण-वाक् हैं, ये तीनों मन ही हैं । मन की स्थूलावस्था का नाम प्राण है, प्राण की स्थूलावस्था का नाम वाक् है । वही मन, बलों के कारण स्थूलरूप में परिणत होता हुआ प्राण कहलाने लगता है एवं और भी स्थूलावस्था में परिणत होकर वाक् कहलाने लग जाता है । बस, इसी भाव को बतलाने के लिए मन को अ कहा जाता है, प्राण को ऊ कहा जाता है एवं वाक् को म् कहा जाता है । अ बिल्कुल सूक्ष्म है, असंग है । मन भी ऐसा ही है, अतएव मन को अ कहा जाता है । वही अ जब जरा स्थूलता में आता है तो ऊ स्वरूप में परिणत हो जाता है एवं जब एकदम स्थूलावस्था में परिणत होता है तो म् बन जाता है । म् बिल्कुल स्थूल है, अ बिल्कुल सूक्ष्म है । ऊ बीच की चीज है । ठीक इसी प्रकार वाक् बिल्कुल स्थूल है एवं मन बिल्कुल सूक्ष्म है, प्राण बीच की चीज है । स्पर्शोष्मा के तारतम्य से (अग्नि, सोम के तारतम्य से) २६४ वर्णों में परिणत हो जाता है । एक ही 'अ' सारी वर्णमाला की सृष्टि कर देता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

अकारो वै सर्वावाक् सा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति । इति ॥

ठीक इसी प्रकार यहां भी एक ही मन प्राण, वाक् में परिणत होता है, सारे विश्व का निर्म्माण कर देता है। शब्द-सृष्टि अ, इ, उ, ऋ, लृ-इन पांच अक्षरों से होती है तो अर्थ-सृष्टि ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम– इन पाँचों अक्षरों से होती है। शब्द-सृष्टि में अ-इ-उ एक दर्जे की चीज है एवं ऋ, लृ दूसरे दर्जे की चीज है। अर्थ–सृष्टि में ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र तीनों एक दर्जे की चीज हैं एवं अग्नी–षोम दूसरे दर्जे की चीज हैं। शब्द-अर्थ-दोनों सृष्टियों, दोनों ब्रह्मों का एक कायदा है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे शब्द ब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।

अस्तु, प्रकृत में हमें सिर्फ इतना ही कहना है कि 'अ' मन का नाम है, ऊ प्राण का नाम है एवं 'म्' वाक् का नाम है। "काम" शब्द में क-अ-म्-अ–ये चार वर्ण हैं। अ नाम मन का है, यह हम अभी बतला आए हैं एवं कम् नाम अन्न का है, सुख का है। मन जब कम् में अर्थात् अन्न में ओत-प्रोत हो जाता है तो वह "काम" कहलाने लगता है। बस, यही काम शब्द का अर्थ है। अन्न में ओत-प्रोत मन का नाम ही काम है। मन जब विषय को पकड़ लेता है, उसमें ओत-प्रोत हो जाता है तो वह काम कहलाने लगता है। क और म् के अर्थात् अन्न के पेट में अ अर्थात् मन घुसा हुआ है। एवमेव म् के अर्थात् अन्न के बाहर भी अ मौजूद है। अन्न के बाहर-भीतर सब ओर मन व्याप्त हो रहा है, बस इस ओत-प्रोत भाव को बतलाने के लिए ही क-अ-म्-अ यह कहा है। कम् नाम है अन्न का। अन्न कहते हैं वाक् को। वाक् है मृत्यु स्वरूप एवं मन है अमृत। यह अमृत, मृत्यु के बाहर-भीतर सब ओर घुसा रहता है—
"**यदन्तरं मृत्योरमृतंमृत्यावमृतमाहितम्**"–यही अमृत-मृत्यु की स्थिति है। बस, बाहर-भीतर के रहस्य को बतलाने के लिए ही क-अ-म्-अ कहा है। अ अर्थात् मनस्वरूप अमृत, मृत्यु के पेट में भी है–और मृत्यु के बाहर भी है। कामयते का अर्थ है "मनः अन्ने प्रविशति।" प्रसंगागत काम का अर्थ बतलाकर पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं। यह इच्छा जिस अन्न को बाहर से ला कर उदर में स्थित करती है उसी का नाम अशिति है। इस अन्न का आत्मा पर चुनाव होता जाता है अतएव इसे अर्थात् अशिति को चयन भी कहते हैं। प्रत्येक

पदार्थ में अग्नि और सोम दोनों तत्त्व रहते हैं। "**अग्नीषोमात्मकं जगत्**" -यह सिद्धान्त है। हम भी अग्निसोमात्मक हैं एवं जिस अन्न को हम खाते हैं वह भी अग्निसोमात्मक है। अग्नि में अग्नि की आहुति होने का नाम है चित्या। इसी को कहते हैं, 'चय'। अग्नि, सोम को पचा सकता है; अग्नि, अग्नि को नहीं पचा सकता। अतएव अग्नि पर जो अग्नि जाता है, वह उस पर जा कर सवार हो जाता है। इस अग्नि का उस पर चेजा (चुनाई-सं.) हो जाता है। इसलिए इस यज्ञ को चयन यज्ञ कहते हैं। दूसरा है सुत्या। अग्नि में सोम की आहुति पड़ने का नाम है सुत्या। अग्नि में सोम जा कर अग्नि ही बन जाता है, चयन नहीं होता है, अतएव इसे सुत्या कहते हैं। सुत्या को ही सोमयाग कहते हैं एवं चित्या को ही चयनयाग कहते हैं। सोम-अग्नि अविनाभूत हैं, अतएव चयन करने वाले को पहले अवश्य ही सोमयाग करना पड़ता है। सोमयाजी ही चयन का अधिकारी है। पृथ्वी से सूर्य्य तक अग्नि ही अग्नि का चयन है। अग्नि ही सूर्य्य तक चुना हुआ है। अग्नि पर अग्नि की तह लगी हुई है। ये तहें कुल पांच हैं। पृथिवी से सूर्य्य तक कुल पांच चितियां हैं। पहली पृथिवी है। पृथिवी के अनन्तर अन्तरिक्ष की चिति है। अन्तरिक्ष के अनन्तर द्युलोक की चिति है। इन तीनों के सन्धि स्थानों में दो चितियां हैं। पृथिवी और अन्तरिक्ष के बीच की जो चिति है, उसका नाम विश्वेदेव चिति है। द्यौ और अन्तरिक्ष के बीच की चिति ऋषि प्राण से सम्बन्ध रखती है। हमारे शरीर में जो वैश्वानर अग्नि है, वह पृथिवी ही है। इसी वैश्वानर अग्नि की रसासृग्मांसादि सात चितियां होती हैं। वैध उपायों से यदि उन प्राकृतिक पाँचों चितियों का आत्माग्नि पर चयन कर लिया जाता है तो हमारा आत्मा उस सूर्य्य चिति से बद्ध हो जाता है। बस, यही चयन यज्ञ का रहस्य है। और-और जितने भी यज्ञ हैं, उन सबसे स्वर्ग-प्राप्ति ही होती है, मुक्ति केवल इसी चयन यज्ञ से होती है। इसलिए "**नामृत्वस्याशास्ति ऋते चयनात्**" कहा जाता है। प्रकृत में हमें बतलाना यही है कि इच्छा द्वारा भुक्त जो अन्न है वह सुत्या और चित्या-इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। जैसे हम अग्निषोमात्मक हैं, तद्वत् भुक्तान्न भी अग्निषोमात्मक ही है। बस, उसका जो अग्नि भाग है उससे तो चित्यायज्ञ होता है एवं जो सोमभाग है उससे सुत्यायज्ञ होता है।

वह अग्नि का चुनाव ही मनुष्य को पुष्ट कर देता है। चूं कि अन्न से चुनाव होता है, अतएव इसको हम चयन कहने के लिए तैयार हैं।

अन्न को वेद में अशीति भी किसी खास अभिप्राय से कहा जाता है जिसका कि सूक्ष्मरूपेण स्वरूप बतला देना अनुचित न होगा। "अशीति" ८० संख्या का नाम है। इन्द्र के लिए जब भी कभी अन्न दिया जायगा तब ८० अक्षर का मंत्र बोला जायगा अथवा ८० मंत्र बोले जाएंगे अथवा ८० सूक्त बोले जाएंगे। इन्द्रप्राण की स्थिति ८० अवयवों में रहती है। अतएव प्राणानुसार ही तत्परिमाणयुक्त वाक् से ही आहुति दी जायगी तो इन्द्र उसे ग्रहण करेंगे। यदि एक भी संख्या कम-ज्यादा हो जायगी तो फिर उस आहुति को, उस अन्न को, इन्द्र कभी नहीं ग्रहण करेंगे।

जिस प्रकार स्वाहा देवताओं के लिए नियत है, स्वधा पितरों के लिए नियत है तथैव अशिति और वौषट् इन्द्र के लिए नियत हैं। इस अशिति से वेद संकेत करता है कि ८० अक्षर के मन्त्र से यदि आहुति दी जाती है तो समझ लो, इन्द्र के लिए दी जाती है। **८० अक्षर के जितने भी मंत्र हों, समझ लो, अन्न सम्बन्धी हैं।** वास्तव में शब्द है अशीति परन्तु परोक्षप्रिय देवता अशीति को अशिति ही कहते हैं। एक ही अश् धातु के दो रूप बन जाते हैं–एक का अश्नुते प्रयोग बनता है, दूसरे का अश्नति बनता है। अन्न बहिर्व्याप्ति अन्तर्व्याप्ति भेदेन दो प्रकार का है। जो अन्न आत्मसात् हो जाय, उसका जो नाम अन्तर्व्याप्ति है। उदरेऽन्नाधान ही अन्तर्व्याप्ति है। पितर प्राण सोममय हैं। इनके लिए जो अन्न दिया जाता है, वह इन्हीं की चीज बन जाता है। सोम, स्नेहन पदार्थ है अतएव वह अन्न इनमें जा कर इनकी चीज बन जाता है। इसीलिए पितरों के अन्न को स्वधा कहा गया। "**स्वस्मिन्नात्मनि धत्ते इति स्वधा।**" एवं जो अन्न आत्मा न बने किन्तु चारों ओर वेष्टित हो जाय, उसी का नाम स्वाहा है। "**स्वम्ना होति नानुधत्ते इति स्वाहा।**" देवता आग्नेय हैं। अग्नि विशकलनधर्म्मा है। उसमें कोई भी चीज आसक्त नहीं हो पाती अतएव देवताओं के लिए "**स्वाहा**" शब्द से आहुति दी जाती है। इसी का नाम बहिर्व्याप्ति है। इसी बहिर्व्याप्ति के लिए अश्नुते प्रयोग होता है एवं अंतर्व्याप्ति के लिए अर्थात् स्वधा के लिए अशिति प्रयोग होता है। पानी में जो

चीनी है, वह स्वाहा है, स्वतः चीनी स्वधा है । वही पानी यदि नमक बने तो स्वधा है । प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि अशिति को अन्न कहते हैं । पर अन्न उदर में जाकर चिति रूप में परिणित हो जाता है, अतएव इसे चयन नाम से व्यवहृत करते हैं । बस, यही अर्थ स्वरूप उस मन का तीसरा रूप है। संसार में जो कुछ दीखता है, वह इसी अन्न की चिति है। अन्न ही तो पदार्थ है । चयन से पदार्थ स्वरूप बनता है । अतएव अर्थ को हम अशिति कह सकते हैं। इसीलिए **"अन्नमयं हि सोम्य मनः"** यह कहा जाता है ।

"अथ अशितिरन्नं स्वोदरे किञ्चिदाधानं चयनं नाम । सोऽर्थस्तृतीयंरूपम् ।"—कामयमान जो मन है, वह ज्ञान क्रिया से चयन करता है इसी से अर्थ उत्पन्न होते हैं । मन ही इच्छा में परिणत हो ज्ञान क्रिया से चुनाव कर पदार्थों का स्वरूप बनाता है । मन के चयन से ही, चुनाव से ही, यच्चयावत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं । इससे सिद्ध हो जाता है कि सारे पदार्थ मन ही मन हैं ।

"मनो हि कामयमानं ज्ञानक्रियाभ्यां चिनोतीति कृत्वा अर्थाः प्रजायन्ते ।" बलों का बलों में जो उपधान है, उसी का नाम चिति है । बलों पर बलों को रखना ही चिति कहलाता है । इसी का नाम सृष्टि है । संसर्ग का नाम ही तो सृष्टि है । संसृष्टि ही सृष्टि का स्वरूप है । ये सृष्टियां ही, अर्थात् एक पर एक चुने हुए बल—संघात ही अर्थ कहलाते हैं । मन से ज्ञान क्रिया द्वारा ये अर्थ्यमान होते हैं अर्थात् मन की इच्छा के विषय बनते हैं । अतएव हम इन बल संघातों को अर्थ कहने के लिए तैयार हैं । इस प्रकार सारे प्रपञ्च से सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान–क्रिया–विषय अर्थात् उक्थ–अर्क–अशिति सारा प्रपञ्च मन ही मन है । मन से मन में मन का जब चयन होता है तभी चूं कि पदार्थ का स्वरूप बनता है, अतएव हम **"सर्वं मन एव"** कहने के लिए तैयार हैं । कितने ही पदार्थ हमारे मन से बनते हैं । पुस्तक, घट, पट, हमारे मन से बने हुए हैं एवं कितने ही ईश्वर के मन से बने हुए हैं–जैसे पर्वत, सूर्य्य, चन्द्रादि । हमारे मन से बने हुए को हम अन्तर्जगत् कहते हैं, ईश्वरीय जगत् को बहिर्जगत् कहते हैं । जो कुछ भी है, है सारी महिमा मन ही की—

चितिर्बलानां बलेषूपाधानात् सृष्टिः । सृष्ट्यएवार्था उच्यन्ते । मनसा-ज्ञानक्रियाभ्यामर्थ्यमानत्वात् । तस्मात् ज्ञानक्रियाविषया इमे सर्वेऽप्यर्था मन एव । मनसामनसिमनसश्चयनेन सिद्धत्वात् ।

महामायावच्छिन्न जो निष्कल अव्यय था, वही कामना के कारण, इच्छा के कारण, "**कामात्मा**" नाम से व्यवहृत होने लगता है । यह निष्कल मन अपना कामात्मा नाम धारण करता हुआ, इस काम द्वारा, इच्छा द्वारा, अपने ऊपर ही बलों का चुनाव करने लगता है । बस, इस चुनाव के कारण, वही कामात्मा "**चिदात्मा**" कहलाने लगता है । महामायावच्छिन्न मात्र रस, जो कि निष्कल कहलाता था, कामात्मा कहलाया एवं वही मन, चिति के कारण चिदात्मा कहलाने लगता है । निष्कल, काम से होने वाली चिति के कारण, पञ्चकल हो जाता है—

"स इत्थं कामात्माऽव्ययश्चयनसंबन्धाच्चिदात्मानामाख्यायते ।"

यह मन, काम द्वारा अपने ऊपर बलों का चयन करता रहता है, इससे कहीं इस भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिए कि बल, इस मन से पृथक् वस्तु है । नहीं, नहींइस मन से ही बल उत्पन्न होते हैं । मन रस स्वरूप है । बल, रस को कब छोड़ सकता है ? दूध, जैसे अपने से ही मलाई उत्पन्न कर अपने आपको उस मलाई से ढँक लेता है; मलाई को अपने ऊपर सवार कर लेता हैं, पानी से उत्पन्न शैवाल जैसे पानी को ढक लेते हैं, ठीक इसी प्रकार उसी मन से उत्पन्न यह सारा बल-प्रपञ्च उसी मन पर सवा हो, उसके स्वरूप को छिपा देता है । मन ही, मन द्वारा, अपने ऊपर मन का ही चयन करता है । मन ही चयन करने वाला है, मन ही क चयन होता है, एवं मन में ही चयन होता है । बाहर के पदार्थ भी मन हैं इन पदार्थों को चाहने वाले काम अर्थात् मन की रश्मियाँ भी मन हैं एवं इच्छ द्वारा आकर्षित अन्न का चुनाव जिस पर होता है वह भी मन ही है । मन अलावा और है ही का ? इसीलिए हम इस श्वोवसीयस मन को "ब्रह्म कहने के लिए तैयार हैं । जिससे सारा प्रपञ्च उत्पन्न होता है एवं उत्प हो कर वह प्रपञ्च जिससे अपनी स्थिति रखता है एवं प्रतिसञ्चर क्रम में व जगत् प्रपञ्च जिसमें जाकर लीन हो जाता है, वह ब्रह्म कहलाता है ।

वास्तव में ऐसा ही है। मन ही से आनन्द, विज्ञान, प्राण, वाक् उत्पन्न होते हैं। इसी मन के आधार पर चारों ठहरे रहते हैं एवं अन्त में इसी में लीन हो जाते हैं। आनन्द, विज्ञान, प्राण, वाक्–इनका प्रभव भी मन ही है, प्रतिष्ठा भी मन ही है एवं परायण भी मन ही है। इसीलिए इस श्वोवसीयस मन को हम ब्रह्म कहने के लिए तैयार हैं। प्राण–वाक् स्वरूप जगत् उसी मन का बृंहण है, इसलिए भी मन को ब्रह्म कह सकते हैं। वर्धन और बृंहण, दो ही उन्नति के सीगे (विभाग–सं.) हैं। कारणनाश से जो कार्योत्पत्ति है, वह वर्धन कहलाती है। बीज का अंकुर में परिणत हो जाना वर्धन है। अंकुर के उत्पन्न होने के बाद बीज का स्वरूप नष्ट हो जाता है। एवमेव अंकुर जब शाखा में परिणत हो जाता है तो अंकुर का कहीं पता भी नहीं लगता है। लोहे से जंग बनता है। कोई समय ऐसा आएगा जिस दिन सारा लोहा जंग बन जायगा, अणु मात्र भी लोहा बाकी नहीं बचेगा। दूध से मलाई बनती है। बनते-बनते सारा दूध मलाई बन जाता है अब दूध को ढूंढना चाहो तो उसका कहीं पता भीन हीं है। कहने का तात्पर्य यही है कि संसार के यच्चयावत् कारणों का नियम है कि वे कार्य स्वरूप में परिणत होने पर अपने पूर्व स्वरूप को एकदम छोड़ देते हैं। परन्तु यह मन बेनजीर है। यच्चयावत् कारणों से यह मन विलक्षण है। इस मन से चाहे हजारों, लाखों, करोड़ों कार्य उत्पन्न हो जायँ तथापि यह अपने उसी स्वरूप में रहता है जिसमें कि कार्योत्पत्ति के पहले था। बस इसी का नाम बृंहण है। आत्मा के अत्यागपूर्वक जो कार्य उत्पन्न होता है, ऐसे कार्य को बृंहण कहा जाता है। यह कार्य उस मन का बृंहण है। इसी बृंहणता के कारण हम इस मन को ब्रह्म कहने के लिए तैयार हैं। अपिच यही मन अविनाशी रूपेण सारे जगत् का भरण–पोषण करता है, इसलिए भी इसे ब्रह्म कहने के लिए तैयार हैं। जिस प्रकार धर्म्मन्, कर्म्मन् बनते हैं उसी प्रकार "बिभर्तिसर्वं" इस व्युत्पत्ति से 'डुभृञ्' धारण पोषणयोः से भर्म्मन् शब्द बनता है। **"द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः"** इस कात्यायन सूत्र के अनुसार भ में ह् और ब दोनों हैं। भर्म्मन् में ब् ह् अर् म् अन्–इतने अक्षर हैं। निरुक्त-नियमानुसार ह और र् का विपर्य्यास हो जाता है। र्, ह के स्थान में आ जाता है; ह, र् के स्थान में आ जाता है। इस प्रकार भर्म्मन् का ब्रह्मन् बन जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि चूं कि यही मन संसार का भरण–पोषण करता है इस-

लिए भी इसे हम ब्रह्म कहने के लिए तैयार हैं। इसीलिए तो **"तदेतच्छ्वोवस्यसं-ब्रह्म"** यह कहा गया है। यही श्वोवसीयस ब्रह्म काम द्वारा बलों का अपने ऊपर चुनाव करके चिदात्मा नाम से व्यवहृत होने लगता है। चित् में कर्त्ता, करण, अधिकरण-तीनों में प्रत्यय होता है। यही अव्ययात्मा, यही मन, अपने आत्मा में अर्थात् अपने ऊपर बलों का चुनाव करता है, इसलिए भी इसे **"चित्"** कहते हैं– **"बलान्यात्मनि चिनोतीति चित्।"** एवं जहां बलों का चुनाव होता है उसे भी चित् कहते हैं। मन पर कामबलों का चुनाव होता है, अतएव हम अवश्य ही मन को चित् कहने के लिए तैयार हैं–**"पञ्चबला निचीयन्ते यस्मिन्तच्चित्।"** एवं जिससे बलों का चुनाव होता है, वह चूंकि चित् कहलाता है, एवं मन का मन से ही अपने ऊपर चुनाव होता है इसलिए भी हम मन को चिदात्मा कहने के लिए तैयार हैं **"यया चीयते सा चित्"**।

मायाबलावच्छिन्न अतएव चिति की इच्छा रखने वाले इस मन में दो प्रकार की चितियां उत्पन्न होती हैं। चिति की इच्छा करने वाला मन अपने ऊपर दो प्रकार की चितियां करता है। बल दो प्रकार का होता है। एक बल तो ऐसा है जो वस्तु पर सवार हो कर उसके स्वरूप को ही ढक देता है, उदाहरण दीपक और घड़े को लीजिए। दीपक के ऊपर घड़ा रख दीजिए, अभी सारा दीप प्रकाश उस घट से आवृत हो जायगा। सारा उजाला घड़े से दब जाएगा। चूंकि घड़ा दीपक को आवृत कर लेता है, अतएव हम इस घड़े को **"आवरण बल"** कहेंगे। दूसरा बल ऐसा है जो दीपक पर रहता हुआ भी दीपक को आवृत नहीं करता। दीपक के चारों ओर काच लग रहे हैं किन्तु इन काचों से दीपक का प्रकाश रुक नहीं रहा है, अपितु चारों ओर फैल रहा है। बस, ठीक इसी प्रकार मन के ऊपर भी इन्हीं बलों का चुनाव होता है। एक बल तो ऐसा है जो मन के स्वरूप को एक दम ढक देता है। मन उस बल के कारण इतना दब जाता है;इतना दब जाता है कि उसका पता ही नहीं रहता। बस, इसी बल को सृष्टि-प्रवर्त्तक बल कहा जाता है। सृष्टि-प्रवर्त्तक बल से मन चूं कि ढक जाता है, अन्तर्हित हो जाता है, आवृत हो जाता है. अतएव इसको हम **"आवरण बल"** कहने के लिए तैयार हैं। दूसरा बल ठीक काच के माफिक है। उस बल से चूं कि आवरण–बल का, सृष्टि–प्रवृत्तक बल का तिरोभाव हो

जाता है अतएव इसे मुक्ति-प्रवर्त्तक बल कहा जाता है। इस बल से मन के ऊपर लगी हुई हृदय-ग्रन्थियां टूट जाती हैं अतएव इसे "निवर्तक बल" भी कहा जाता है। ये दोनों ही बल उस श्वोवसीयस ब्रह्म में रहते हैं। दीपक श्वोवसीयस ब्रह्म है। उसमें एक बल तो ऐसा है जिसने दीपक के स्वरूप को सुरक्षित रखा है। जिस बल ने दीपक को दीपक कहला रखा है, परन्तु दूसरा बल ऐसा है जो हर वक्त दीपक को आवृत करने की ही कोशिश किया करता है। इस आवृत करने वाले बल का नाम ही "कज्जल" है। कज्जल भी दीपक ही से उत्पन्न होता है, परन्तु वह दीपक के स्वरूप को आवृत कर देता है। तो जिस प्रकार एक ही दीपक में स्वरूप-साधक और बाधक दोनों बल मौजूद रहते हैं, तथैव इस एक ही मन में सृष्टि-साक्षी और मुक्ति-साक्षी दोनों बल रहते हैं। मन, प्रवर्त्तक बल एवं निवर्त्तक बल दोनों का अधिष्ठाता है। हमने बतलाया था कि मन में जब ज्ञान कर्म्म उन्मुग्ध रहते है, तो यह मन अव्याकृत कहलाता है। ज्ञानकर्म्मोन्मुग्धावस्थायुक्त मन का नाम ही "निष्कल ब्रह्म" है। गुलाब के फूल की डोडी में पत्ते भी हैं केसर भी है, परन्तु उन्मुग्ध हैं, अतएव उस कली में यह विभाग नहीं किया जा सकता कि डोडी में ये तो पत्ते हैं, यह केसर है। पत्ते, केसर की इस समय उन्मुग्धावस्था है, अतएव हम इस डोडी को "अव्याकृत" कहने के लिए तैयार हैं। इसी प्रकार ज्ञानकर्म्मोन्मुग्धावस्थायुक्त जो मन है, वह चूंकि एक ही है, अतएव उसे निष्कल कहा जाता है। परन्तु ध्यान रहे, जैसे ज्ञान और कर्म्म, उन्मुग्ध रूप से इसमें मौजूद हैं, तथैव उन्मुग्ध रूप से सृष्टि-प्रवर्त्तक और सृष्टि-निवर्त्तक बल भी इस मन में अवश्य ही मौजूद हैं। समय पा कर, काम-बल के कारण, पहले ये दोनों बल इस मन में उद्बुद्ध हो पड़ते हैं। बस, इन बलों के कारण ही उन्मुग्ध ज्ञान-कर्म्म भी उद्बुद्ध हो पड़ते हैं। हमने बल दो प्रकार के बतलाये हैं। इन दोनों में से जो सृष्टिसाक्षी प्रवर्त्तक बल है, जो कि अव्यय मन के स्वरूप को आवृत करने के कारण आवरण मन भी कहलाता है, वह ज्ञानकर्म्मोभयात्मक मन के कर्म्म भाग में चयन करता है। बस, काम द्वारा सृष्टि-प्रवर्त्तक आवरण-बल से मन के उन्मुग्ध कर्म्म भाग में बल की जो पहली चिति है, उसी का नाम "प्राण" है। प्राण चिति से मन का स्वरूप ढक जाता है। प्राण, क्रिया का नाम है। क्रिया जड़ है। क्रिया मे चेतना का नाम निशान भी नही है। मन

ज्ञान-स्वरूप है, चित्-स्वरूप है। जहां उस पर पहली चिति हुई कि वही मन प्राण-स्वरूप में परिणत हुआ। इस प्राण की चिति ज्ञान, कर्म्म इन दोनों में से कर्म्म भाग पर होती है। इस प्राण पर यदि और चिति हुई तो प्राण, वाक् स्वरूप में परिणत हो जाता है। दूसरी चिति का नाम ही वाक् है। यह अत्यन्त मोटी चिति है। इससे स्थूल कोई चिति नहीं है। वाक् नाम है भूत जात का। इन भूतों में जो पहला भूत है, उसका नाम आकाश है। इसीलिए आकाश को "**वाक्**" कहते हैं। यही वाक् स्थूल रूप में परिणत होती हुई, उत्तरोत्तर में होने वाली हृद्ग्रन्थियों के कारण वायु, तेज, जल, पृथिवी स्वरूप में परिणत हो जाती है। यही वाक् सब कुछ रचती है, अतएव वाक् से हम पाँचों भूतों का ग्रहण कर सकते हैं। मिट्टी से बना हुआ घड़ा जैसे मिट्टी ही है, तथैव वाक् से बने हुए अवशिष्ट चारों भूत भी वाक् ही हैं। इसीलिए "**वाचीमा विश्वा भुवना व्यर्पिता**", "**अथो वागेवेदं सर्वम्**" यह कहा जाता है। बस, इस वाक् के अलावा और तीसरी चिति है ही नहीं। वाक् पर जो भी चिति होगी, वह वाक् ही होगी। यह वाक् चिति प्राण पर होती है। इससे मन का स्वरूप एकदम दब जाता है। सृष्टि–प्रवर्त्तक आवरण बल के कारण मन में उन्मुग्ध रूप से रहने वाले कर्म्म भाग पर जब प्राण और वाक् का चयन हो जाता है तो वह कर्म्म अपनी उन्मुग्धावस्था को छोड़ कर उद्बुद्धावस्था में परिणत हो जाता है। प्राण-वाक् ही तो कर्म्म की उद्बुद्धावस्था हैं। इस प्राण, वाक् की चिति को ही बहिश्चिति कहते हैं। प्राण और वाक् वास्तव में कर्म्म-स्वरूप ही हैं। प्राण, वाक् दोनों ही शुद्ध कर्म्म हैं। ज्ञान का आवरण दोनों में है। प्राण, यत्न का नाम है, यत्न, क्रिया है, क्रिया सर्वथा जड़ है। वाक् के लिए तो कुछ कहना ही नहीं है। इतना और समझ लेना चाहिए कि प्राण, अशरीरी है एवं वाक्, शरीरी है। प्राण का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता वाक् का प्रत्यक्ष होता है। जिसमें दिक्-देश-काल का परिच्छेद होता है, वही पदार्थ, वही वस्तु शरीरी कहलाती है। प्राण, क्रिया स्वरूप है। क्रिया दिग्देश कालानवच्छिन्न है, अतएव प्राण-स्वरूप क्रिया को हम अशरीरी कहने के लिए तैयार हैं। परन्तु वाक् अर्थात् घट पटादि पदार्थ दिग्देशकाल से अवच्छिन्न है अतएव वाक् को शरीरी कह सकते हैं। यद्यपि इस शरीर में, अर्थात् वाक् में

प्राण भी रहता है एवं प्राण के अन्दर प्राणाधिष्ठाता मन भी रहता है, परन्तु मन, प्राण दोनों ही प्रत्यक्षातीत हैं। प्रत्यक्ष हमें केवल वाक् का ही होता है, अतएव "**अथोवागेवेदंसर्वम्**"—इसमें कोई भी विरोध नहीं आता है। प्राण, यद्यपि मन से स्थूल है, तथापि वाक् की अपेक्षा अति सूक्ष्म हैं। प्राण, मन और वाक् के बीच की चीज है, अतएव यह न अति सूक्ष्म है, न अति स्थूल है। स्वरों में अ अति सूक्ष्म है, म् अति स्थूल है, उ दोनों के बीच की वस्तु है, अतएव मन को अ कहा जाता है, प्राण को उ कहा जाता है, वाक् को म् कहा जाता है। इस वाक् का असली स्वरूप पूछना चाहो, तो मन-प्राण ही है। मन-प्राण जब मिल जाते हैं, अर्थात् मन-प्राण पर जब एक चिति और हो जाती है, तो वही मन-प्राण वाक् कहलाने लगते हैं। जो वस्तु अर्थात् जो बल उ और अ को चाहता है, उ और अ को अपने पेट में भुक्त करना चाहता है एवं चाह कर इच्छा कर जो बल दोनों को अपने पेट में शामिल कर लेता है, उसी बल का नाम वाक् है। उ श्च अ श्च (प्राणं च मनश्च अर्थते)तद्बलं वाक् उ+अ अच् ऐसी स्थिति रहती है। इसमें उ को यण् हो जाता है, अ को आ हो जाता है, दीर्घ हो जाता है, तो वाक् बन जाता है। इसी मन-प्राण गर्भिता वाक् के मन-प्राण को और भी साफ बतलाने के लिए वैदिक लोग वाक् को "**वौक्**" बोला करते हैं। वषट्कार के लिए ही "**इन्द्राय वौषट्**' यह कहा जाता है। मन-प्राण गर्भिता वाक् का नाम ही वौक् है। इससे यह भी सूचित किया जाता है कि वाक् का स्वरूप भी मन–प्राण से ही बना है। "**वाक्**" इस स्वरूप का जन्म भी मन-प्राण से ही हुआ है एवं इस वाक् की स्थिति भी इसी मन-प्राण-वाक् से है। अतएव इसी भाव को बतलाने के लिए वैदिक लोग वाक् में अ और उ को और शामिल कर लेते हैं। अ औ उ को मिल कर गुण हो जाता है तो वा ओ क् ऐसी स्थिति रहती है। बाद में आ ओ की वृद्धि हो जाती है तो वौक् बन जाता है। ओ अर्थात् उ और अ अर्थात् प्राण और मन वाक् के बीच में है। ओ वा और क् के बीच में है। इसीलिए तो मन-प्राण-गर्भिता वाक् को "**वौक्**" कहना सर्वथा उचित हो जाता है। प्रकृत में हमें केवल इतना ही कहना है कि श्वोवसीयस मन के काम से पहले, सृष्टि–साक्षी आवरण–धर्म्मा प्रवर्त्तक–बल जागृत हो पड़ता है। वह प्रवर्त्तक बल उन्मुग्ध ज्ञान कर्म्म के कर्म्म भाग पर प्राण की

चिति करता है । एवं प्राण पर वाक् की चिति करता है । इस प्रकार इच्छा-प्रवर्त्तक बल से इस मन में बहिश्चिति प्राण और वाक् ये दो कलाएं उत्पन्न कर देती है । प्रातः काल का वायु और ठंडे जल का छिड़काव जैसे गुलाब की डोडी को खिलाता हुआ उसे व्याकृत कर देता है, उसी प्रकार भगवती इच्छा, प्रवर्त्तक बल से उस उन्मुग्ध कर्म्म को प्राण और वाक् स्वरूप में व्याकृत कर देती है, दो कलाओं को उत्पन्न कर देती है, अव्याकृत कर्म्म को प्राण-वाक् इन दो भागों में परिणत कर व्याकृत बना डालती है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

चितिंकामयमानेऽस्मिन् निष्कलेऽव्यये द्विविधा चितिः प्रवर्त्तते । सृष्टि प्रवर्त्तकेनावरणबलेनमनसः कर्मभागे प्रथमा चितिः प्राणः । पुनश्चितिर्वाक् सेयंमनसि बहिश्चितिर्द्वेकलेजनयति प्राणञ्चवाचञ्च ।

परन्तु साथ ही सृष्टि–निवर्त्तक बल भी शामिल रहता है । यह निवर्त्तक बल बहिश्चिति-बल का प्रतिबन्धक बल है । बहिश्चिति-बल आव–रण करता है तो अन्तश्चिति बल आवरण को छिन्न–भिन्न करता है । बहि–श्चिति बल, मन के स्वरूप को संकुचित करता है, तिरोहित करता है तो अन्तश्चिति बल मन के संकोच भाव को नष्ट कर मन को विकसित कर देता है, तिरोहित को प्रत्यक्ष में ला देता है । इस प्रकार बहिश्चिति का प्रतिबन्धक, अन्तश्चिति बल है, अन्तश्चिति का प्रतिबन्धक बहिश्चिति बल है । मन को आवृत करने वाला भी बल है, आवरण को तोड़ने वाला भी बल ही है । जिस मैल ने स्वच्छ कपड़े को मैला-कुचैला कर दिया था, उसी मैल को साबुन, जो कि बल ही है, साफ कर डालता है । इसी प्रकार इस अन्तश्चिति से अव्यय का कषाय दूर हो जाता है । अव्यय मन में ज्ञान और कर्म्म दोनों उन्मुग्ध भाव से बैठे रहते है । दोनों में से बहिश्चिति तो उस कर्म्म भाग में होती है एवं अन्तश्चिति उन्मुग्ध ज्ञान भाग में होती है । बहिश्चिति प्रतिबन्धक अन्तश्चिति बल, जो निवर्त्तक बल है, मुक्तिसाक्षी है, इच्छा के द्वारा अव्यय के उन्मुग्ध ज्ञान भाग पर विज्ञान की चिति करता है । जिस प्रकार कर्म्म में पहली चिति प्राण है, तद्वत् ज्ञान में पहली चिति विज्ञान है । जिस प्रकार प्राणचिति के होते ही मन थोड़ा सा आवृत हो जाता है, ठीक इसके विरुद्ध विज्ञान चिति के

होते ही मन का अन्धकार नष्ट हो जाता है। विज्ञान से उसी समय ज्ञान मन चमक पड़ता है। जिसमें विज्ञान नहीं होता वह सर्वथा आत्मा के स्वरूप को नहीं देख सकता। देखे कैसे ? दिखाने का साधन तो विज्ञान है। विज्ञान से आनन्दमय ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। विज्ञान में आनन्द है। यदि विज्ञान नहीं तो आत्मज्ञान कैसा ? एवं इसी विज्ञान पर एक चिति और होती है, उस चिति का नाम है आनन्द। प्राण पर वाक् चिति हो जाने से जैसे मन एकदम आवृत हो जाता है, ठीक इसके विरुद्ध विज्ञान पर जब आनन्द की चिति हो जाती है तो अव्यय मन के साक्षात् दर्शन हो जाते हैं। एक तरह से हम आनन्द को ही अव्यय मन कह सकते हैं। इससे आनन्द मिलता है, अतएव उसको अर्थात् मन को हम आनन्द कह सकते हैं। रस का नाम ही तो आनन्द है। इसीलिए तो **"रसो ह्येव सः रसं ह्येवायंलब्ध्वानन्दी भवति।"** यह कहा जाता है। जिस प्रकार प्राण-वाक्, कर्म्म की उद्बुद्धावस्था है उसी प्रकार आनन्द-विज्ञान, ज्ञान की उद्बुद्धावस्था है। इसी प्रकार यह अन्तश्चिति मन की प्रेरणा से, इच्छा से, अव्यय के उन्मुग्ध ज्ञान भाग में आनन्द और विज्ञान इन दो कलाओं को उत्पन्न करती है। ज्ञान में उत्पन्न नहीं करती अपितु ज्ञान ही बल की चिति द्वारा आनन्द और विज्ञान इन दो कलाओं में परिणत हो जाता है। इस प्रकार मन के काम से अन्तश्चिति, बहिश्चिति द्वारा उन्मुग्ध ज्ञान-कर्म्म आनन्द, विज्ञान, प्राण वाक् स्वरूप में उद्बुद्ध हो जाते हैं। एक ही मन, चार कलाओं में परिणत हो जाता है—

अथ बहिश्चिति प्रतिबन्धक बलेन सृष्टि निवर्तकेन मनसोज्ञानभागे प्रथमा चितिर्विज्ञानम्। पुनश्चितिरानन्दः। सेयं मनिसिपुनरन्तश्चितिर्द्वेकले जनयति विज्ञानञ्चानन्दं च।

इन चारों कलाओं से चित् मन को पृथक् ही मानना पड़ता है। इस मन पर उन चारों का चुनाव होता है। अतएव सिद्ध हो जाता है कि मन चारों कलाओं से पृथक् है। इस मन पर चूं कि चुनाव होता है, अतएव वह, "चिन्मन" कहलाने लगता है। जब तक मन, काम से शून्य रहता है, तब तक वह निष्कल कहलाता है, एवं कामोत्पत्या कामात्मा कहलाने लगता है। वही

कामात्मा आगे चुनाव के कारण चिदात्मा कहलाने लगता है। यह निष्कल अव्यय ही अन्तश्चिति बहिश्चिति के कारण पञ्चकल होकर प्रतिभासित होने लगता है। पञ्चकलोपेत इस अव्यय ब्रह्म के, इसी अन्तश्चिति बहिश्चिति भेद के कारण ही दो रूप हो जाते हैं। उन दोनों रूपों का नाम है ज्ञान और कर्म्म। एक ही अव्यय ब्रह्म चितिभेदेन अपने ज्ञान और कर्म्म–ये दो स्वरूप धारण कर लेता है। वास्तव में बात यह है कि जब काम-बल उत्पन्न नहीं होता है तो तन्मूलक अन्तश्चिति बहिश्चिति बल भी उत्पन्न नहीं होते हैं। ऐसी अवस्था में ज्ञान-कर्म्म की उन्मुग्धावस्था रहती है। अतएव उस मन को हम अव्याकृत कहने के लिए तैयार हैं। उस निष्काम मन के जो ज्ञान कर्म्म हैं, वे सर्वथा ओत-प्रोत हैं। ज्ञान–कर्म्म की खिचड़ी का नाम ही निष्कल मन है। उनमें कौन सा ज्ञान है, कौन सा कर्म्म है, यह व्याकरण नहीं किया जा सकता। उन्मुग्ध ज्ञानकर्म्म की छाँट नहीं की जा सकती। अतः उसे हम सिवाय निष्कल के और कुछ नहीं कह सकते। परन्तु जब यह मन काममय हो जाता है, अर्थात् मन में इच्छाबल का प्रादुर्भाव हो जाता है तो इस इच्छाबल से अन्तश्चिति और बहिश्चिति का जन्म हो जाता है। जहाँ इन दोनों का जन्म हुआ कि उन्मुग्ध ज्ञानकर्म्म उद्बुद्ध हुए। बस, ज्ञानकर्म्म की उद्बुद्धावस्थाओं को ही ज्ञान ब्रह्म और कर्म्मब्रह्म—इन दो भागों में बाँट दिया जाता है, खिचड़ीपना मिट जाता है। ज्ञान का स्वरूप अलग छँट जाता है एवं कर्म्म का स्वरूप अलग छँट जाता है। अलग छँट जाता है—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ज्ञान कर्म्म बिल्कुल जुदा हो जाते हैं, ज्ञान-कर्म्म में कोई सम्बन्ध नहीं रहता; नहीं, अपितु ज्ञान कर्म्म का स्वरूप अलग–अलग दीखने लग जाता है, यही अलग छँटने का तात्पर्य-है। ज्ञान, कर्म्म कभी अलग तो रह ही नहीं सकते। ज्ञान के बिना न कर्म्म रह सकता है, न कर्म्म के बिना ज्ञान रह सकता है। ज्ञान रस है, कर्म्म बल है। रस, बल के बिना कैसे रह सकता है ? एवमेव, बल रस के बिना कैसे रह सकता है ?

"अन्तरंमृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्"—यह अटल सिद्धांत है ! इस सिद्धांत का कहीं भी, कभी भी, व्यभिचार नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में एक ही अव्ययब्रह्म के ज्ञान और कर्म्म दो रूप हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यही है

कि जिन ज्ञान कर्म्मों का उन्मुग्धावस्था के कारण पता ही नहीं था, जिसे सिवाय निष्कल के और कुछ कह ही नहीं सकते थे, वही चिति के कारण उद्बुद्ध होता हुआ स्व-स्वरूप से दिखलाई देने लगता है । अव्याकृत ज्ञानकर्म्ममय अव्यय को व्याकृत ज्ञानकर्म्ममय अव्यय स्वरूप में देखने लगते हैं । इसी चिति-बल की महिमा से ही, एक ही निष्कल अव्यय, पञ्चकल होता हुआ ज्ञान और कर्म्म–इन दो स्वरूपों को धारण कर लेता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

अथ चिन्मनः पृथगिष्यते । तथा च निष्कलमेवायमव्ययः पञ्चकल भूत्वा प्रतिभाति । तस्यैतस्य पञ्चकलस्याव्ययब्रह्मणोऽन्तश्चितिबहिश्चितीति-भेदेन द्वैविध्याद्द्वेरूपे संभवतः ज्ञानंकर्मचेति ।

इनमें मन, विज्ञान, आनन्द—ये तीन तो ज्ञानाव्यय के स्वरूप हैं। क्यों कि मन के उन्मुग्ध ज्ञान भाग पर ही तो विज्ञान और आनन्द की चिति हुई है । एवं मन, प्राण, वाक्—ये कर्म्माव्यय के स्वरूप हैं । मन के उन्मुग्ध कर्म्म भाग पर ही प्राण और वाक् की चिति हुई है । अतएव हम अवश्य ही इन तीनों की समष्टि को कर्म्माव्यय कहने के लिए तैयार हैं । मन का ज्ञान और कर्म्म दोनों में समावेश है । क्योंकि मन, ज्ञान–कर्म्म उभयात्मक है । अव्याकृत ज्ञान–कर्म्म की समष्टि का नाम ही तो मन है । इस ज्ञान कर्म्मो-भयात्मक मन से एक शाखा ज्ञान की निकलती है, एक शाखा कर्म्म की निकलती है । ज्ञान शाखा में आनन्द फल है, विज्ञान पुष्प है । कर्म्मशाखा में ज्ञान ही से आनन्द मिलता है । जड़ की तो बात ही छोड़िए, जो चेतन प्राणी हैं, उनमें भी जो मनुष्य हैं, उनमें, यदि वे भूखे होते हैं तो उन्हें भी आनन्द नहीं आता। मूर्ख आदमी को कोई विशिष्ट कविता सुनाइए, वे महाशय आँख फाड़े खड़े रहेंगे । उनका मजबूत दिल आपकी कविता से टस से मस भी नहीं हो सकता । हो कैसे, जब वे आनन्द के साधनभूत विज्ञान को पास रखना ही पसन्द नहीं करते । आनन्द तो विज्ञान से होता है । इसीलिए हम कह सकते हैं कि विज्ञान पुष्प है, आनन्द फल है । इसी प्रकार कर्म्म टहनी की ओर चले जाइए । उसमें प्राण पुष्प है, वाक् अर्थात् सम्पत्ति फल है । प्राण–व्यापार से, परिश्रम से, सम्पत्ति मिलती है । जो आलसी हैं, अकर्मण्य हैं, केवल भाग्य पर

ही भरोसा रखते हैं, वे जन्म भर दुःखी रहा करते हैं, भूखों मरा करते हैं। इसीलिए वेद भगवान् ऐसे सन्तोष का, जो कि मनुष्य की उन्नति का बाधक है, बड़े जोरशोर के साथ खण्डन करते हैं और कहते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम्हें कभी सन्तोष नहीं करना चाहिए। जिस वस्तु की तुम्हारे पास कमी है, उसके लिए हर वक्त कोशिश करते रहना चाहिए, सदा प्राणव्यापार करते रहना चाहिए। "बस, बहुत हो गया, अब हमें कुछ नहीं चाहिए"—ऐसी अलंबुद्धि को पास में कभी नहीं फटकने देना चाहिए।

"अजितं जेतुमनुचिन्तयेत् न क्वचिदप्यलं बुद्धिमादध्यात्"—प्रकृत में यही कहना है कि प्राण–व्यापार से ही वाक् अर्थात् सम्पत्ति मिलती है। मन–वृक्ष की ज्ञान और कर्म्म–ये दो टहनियां हैं। ज्ञान टहनी में विज्ञान पुष्प है, फल आनन्द है। कर्म्म टहनी है, प्राण पुष्प है, वाक् फल है। जो महाप्राण होते हैं, उद्योगी वीर होते हैं, उनके सामने त्रिभुवन की सम्पत्ति हाथ जोड़े खड़ी रहती है। अतएव—

"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः—यह कहा जाता है। एवमेव जो वैज्ञानिक मनुष्य हैं, जिनका मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण है, वे कभी दुःखी नहीं रहते। ज्ञानी मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं। मूर्ख एवं अज्ञानी मनुष्य बात-बात में पद-पद पर आँसू बहाया करते हैं, सदा चिन्ता-समुद्र में निमग्न रहते हैं। विज्ञान से आनन्द मिलता है और प्राण से वाक् अर्थात् सम्पत्ति मिलती है। यह बात हमने क्रम समझाने के लिए कह दी है, वास्तव में प्राण, वाक्, आनन्द, विज्ञान सब मिले–जुले रहते हैं। एक के बिना दूसरा कभी नहीं रह सकता है। सम्पत्ति नाम है रुपये-पैसे का, जमीन का, गाय-बैल, हाथी, घोड़े, मोटर, बाग-बगीचे इत्यादि का। इन्हीं का नाम है विषय। घट-पट, रुपए-पैसे, गाय-घोड़े–इन पदार्थों को ही तो विषय कहते हैं। बस, ज्ञान इन विषयों से ही होता है एवं विषयों का ही होता है। निर्विषयक ज्ञान, ज्ञान ही नहीं रहता। ज्ञान किसी वस्तु का हुआ करता है। अतएव हम कह सकते हैं कि ज्ञान वस्तु में, अर्थात् विषय में, अर्थात् वाक् में बद्ध है। ज्ञान से चूं कि आनन्द आता है अतएव आनन्द भी वाक् से बद्ध ही है। बद्ध क्या है, सम्पत्ति से ही तो आनन्द

आता है। अतएव हम कह सकते हैं कि कहने को आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् अलग-अलग हैं, वास्तव में पांचों अभिन्न हैं। नाना भाव तो समझने के लिए हैं। वस्तुतस्तु "**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मनेहनानास्ति किञ्चन**"—यही अन्तिम सिद्धांत है। हाँ, तो हम बतला रहे थे कि मन ज्ञानकर्म्मोभयात्मक है। मन ही से ज्ञानशाखा निकलती है एवं मन ही से कर्म्मशाखा निकलती है। अतएव मन का ज्ञान, कर्म्म दोनों में समावेश होता है। परन्तु इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि आनन्द–विज्ञान वाला मन सर्वथा ज्ञानस्वरूप ही है। वह शुद्ध विज्ञानस्वरूप है, यह शुद्ध कर्म्मस्वरूप ही है। इसमें जरा भी ज्ञान नहीं है—

मनोविज्ञानमानन्द इति ज्ञानाख्यम्। मनः प्राणोवागिति कर्म्माख्यम्। उभयत्र मनसः समावेशः ज्ञानकर्म्मोभयात्मकत्वात्।

मन पर प्राण की चिति होती है, अतएव प्राण मन पर ही प्रतिष्ठित रहता है, एवं प्राण पर वाक् की चिति होती है, अतएव वाक् प्राण पर अवलम्बित रहती है। बिना मन के प्राण नहीं रह सकता एवं बिना प्राण के वाक् नहीं रह सकती। मन इच्छा का जनक है, प्राण यत्न का जन्मदाता है, वाक् कर्म्म को उत्पन्न करती है। तीनों की समष्टि से नई चीज पैदा होती है। इन तीनों में, बिना इच्छा के प्राण–व्यापार, जिसे कि चेष्टा एवं कोशिश कहते हैं, हो ही नहीं सकता है। प्राण-व्यापार, इच्छा पर अवलम्बित है एवं वाग्-व्यापार अर्थात् हाथ-पैर हिलाना, प्राण पर अवलम्बित है। जिसमें प्राण–व्यापार नहीं होता, वह वाक् दो कौड़ी की चीज है। प्राण ही को दम कहते हैं। जब तक दम रहता है तभी तक वाक् की अर्थात् पदार्थ की स्थिति रहती है। अतएव हम कह सकते हैं कि वाक्, प्राण के आधार पर ही अवलम्बित है। एवमेव प्राण, बिना मन के अर्थात् इच्छा के, बेकार हैं। बिना इच्छा के, बिना मन के, कोशिश हो ही नहीं सकती। यदि बिना मन के कोशिश की जायगी, तो वह बेकार जायगी। इसलिए हम कह सकते हैं कि प्राण, मन पर अवलम्बित रहता है। परन्तु मन स्वतन्त्र है। वह अपने आप पर ही अवलम्बित है। इसीलिए तो इस मन को श्वोवसीयस ब्रह्म कहने के लिए तैयार हैं।

"मनसि प्राणः प्राणोवागवलम्बते" एवमेव मन में विज्ञान अवलम्बित है, एवं विज्ञान आनन्द में अवलम्बित है। विज्ञान की प्रतिष्ठा मन है एवं आनन्द की प्रतिष्ठा विज्ञान है। बिना मन के, विचार शक्ति कोई काम नहीं कर सकती। विज्ञान, बिना मन की मदद के बेकार है। मन से जो विचार किया जाता है, वही असली विचार है। बिना मन का विचार तो पागलों का होता है। बुद्धिमान् वह कहलाता है जो मननशील हो। एवमेव आनन्द, बिना विज्ञान के नहीं हो सकता, जैसा कि पूर्व में बतला दिया गया है। आनन्द की प्रतिष्ठा यद्यपि विज्ञान ही है तथापि अन्तिम प्रतिष्ठा इसकी भी मन ही है। यदि मन नहीं, तो विज्ञान, आनन्द दोनों ही का पता नहीं। एवमेव प्राण, यद्यपि वाक् की प्रतिष्ठा है तथापि इसकी अन्तिम प्रतिष्ठा भी वही मन है। उत्तरोत्तर की पूर्व-पूर्व प्रतिष्ठा है परन्तु इन सबकी प्रतिष्ठा वही मन है। इसी अभिप्राय से तो कहा गया है—

तद्वाऽइदं मनस्येव परमं प्रतिष्ठितं यदिदं किञ्च। तदेतच्छ्वो वस्यसं ब्रह्म।

अर्थात् जिस मन में आनन्द, विज्ञानादि प्रतिष्ठित हैं, वह यही श्वोवसीयस ब्रह्म है। इसी ब्रह्म में सारा प्रपञ्च प्रतिष्ठित है। यही ज्ञान की ओर ले जा कर बन्धनों से मुक्त करा देता है एवं अपने कर्म्म स्वरूप की ओर ले जा कर बन्धनों में डाल देता है। यही मन ज्ञानापेक्षया मुक्ति का कारण बन जाता है, यही मन कर्म्मसूत्र द्वारा बन्धन का कारण बन जाता है। इसी अभिप्राय से ऋभियुक्त कहते हैं—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'—इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

एवं मनसि विज्ञानं विज्ञाने चानन्दोऽवलम्बते। मनो हि श्वोवसीयसं ब्रह्म।

वाक् मैटर (Matter) का नाम है, मैटिरियल वस्तु का नाम है। हम जो कुछ देखते हैं, वाक् ही वाक् देखते हैं। प्रत्यक्ष का विषय मैटेरीयल वस्तु के अलावा और कोई हो नहीं सकता। अग्नि, वायु, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी

इत्यादि यच्चयावत् पदार्थ, जिन्हें कि हम आँखों से देखते हैं, वे सब वाक् हैं, मैटीरियल चीजें हैं। इन मैटीरियल वस्तुओं में बड़ी ही करामात है। रेल, तार, हवाई जहाज, बम के गोले, जलयान, मोटर और अन्यान्य असंख्य यन्त्र इसी वाक् की महिमा हैं। आधुनिक सायंस की आराध्य देवी यही वाक् है। इसी वाक् पर आज सारा वैज्ञानिक जगत् नाच-कूद कर रहा है। वाक् अवश्य ही, ऐसी वस्तु है। वाक् से बड़े-बड़े कार्य निकलते हैं। संसार का स्वरूप ही मैटिरियल जगत पर निर्भर है।

यह सब कुछ होते हुए भी हम इसी को सबसे उँचा आसन देने के लिए तैयार नहीं हैं। भौतिक सायन्स, मैटर विज्ञान पर ही जा कर प्रकृति-नियन्ता की शक्ति की इतिश्री नहीं हो जाती है। जिस मैटर के बल पर, जिस भौतिक विज्ञान के बल पर पाश्चात्य जगत् अपने को ईश्वर से भी बढ़ कर समझ रहा है, हम उसे विश्वास दिलाते हैं कि तुम्हारा यह मैटर विज्ञान, भौतिक विज्ञान, प्राण विज्ञान के सामने रद्दी चीज है। भौतिक जगत् में आप जिस शक्ति का अनुभव कर रहे हैं, वह शक्ति वास्तव में इस प्राण की शक्ति है। प्राण-शक्ति ही से भौतिक जगत् का पता है। जिस दिन प्राणतत्त्व इस मैटीरियल जगत से निकल जायगा उस दिन को हम संसार नहीं कहेंगे, प्रलय कहेंगे। यहीं पर समाप्ति नहीं है, प्राण के भी और आगे बढ़िए। प्राण से भी एक जबर्दस्त शक्ति का अनुभव कीजिए, जिसके आधार पर प्राण नाच रहा है। उसी शक्ति को हम मन कहते हैं। बिना मन के, प्राण कोई चीज नहीं है। एक रेलगाड़ी धड़-धड़ करती हुई प्रबल वेग से जा रही है। उसका यह प्रबल वेग उसकी अपनी चीज नहीं है। वह वेग शक्ति है असल में इञ्जिन की चीज। इञ्जिन की शक्ति सारे डिब्बों में भर रही है, इसलिए सारे डिब्बे चल रहे हैं। जरा और भी तह में चलिए। इञ्जिन भी कोई चीज नहीं है, असली वस्तु है अग्नि-पानी के मेल से उत्पन्न होने वाला गैस-वाष्प। उस वाष्प की शक्ति से ही इञ्जिन में वह सामर्थ्य आ गया है। बस, ठीक इसी प्रकार जितना भौतिक जगत् है-वाक्-प्रपञ्च है एवं इसमें जितनी भी शक्ति है, वह असल में प्राण की शक्ति है, एवं प्राण में जो शक्ति है, असल में वह मन की शक्ति है। मन शक्तिघन है। उसी से प्राण शक्तिशाली हो रहा है। उसी मन के बल पर

वाक् नाच रही है। मन ताकतवर से ताकतवर है। मन के सामने मैटर कोई चीज नहीं है। जरा मन के बिगड़ जाने से सारे शरीर की, सारे मैटेरियल जगत् की अवस्था और की और ही हो जाती है। मन के पॉवर से सारे विश्व को इधर-उधर किया जा सकता है। आज हम मनोबल को भूल गये हैं। भूल नहीं गये हैं, बाध्य होकर भूलना पड़ता है, अतएव हमारे आत्म-विज्ञान पर पाश्चात्य जगत् हँसी उड़ाता है। भारतीय विज्ञान के पञ्च तत्त्वों के रहस्य को बिना सोचे-समझे इनके तत्त्वपने (तत्त्वत्व) पर आक्षेप करता है। परन्तु करे, सब करे, हम सब कुछ सहने के लिए तैयार हैं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं, यही आज हमारा मूल मंत्र है। जिस दिन भारत स्वतन्त्र होगा, उस दिन भारत के कर्णधार उनसे उन आक्षेपों का, उन मजाकों का, उन गर्वोक्तियों का जवाब मांगेंगे और जवाब यदि ठीक नहीं होगा तो उनके लिए समुचित व्यवस्था करेंगे। अस्तु, हम कह रहे थे कि मन ही असली वस्तु है। सारा विश्व मन ही के आधार पर अवलम्बित है।

मन के बिना वाक्, अर्थात् भौतिक वस्तु कोई चीज नहीं है। पर्वत, घट, पट, मठ इत्यादि पदार्थों में तो मन और प्राण नहीं हैं। ये पदार्थ तो सारे जड़ हैं फिर, बिना मन के इन पदार्थों की स्थिति कैसे रहती है—कहीं इस भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिए। पर्वत, घट, पटादि में मन, प्राण नहीं हैं, यही बात गलत है। मन, चिदात्मा का नाम है। चिदात्मा व्यापक है। भला व्यापक वस्तु का भी कहीं अभाव रहा है? जिन्हें आप जड़ समझ रहे हैं उनमें भी मन मौजूद है, चिदात्मा मौजूद है। व्यापक वस्तु का भी क्या कभी अभाव हो सकता है? ज्ञान शक्ति सबमें है परन्तु किसी में तिरोहित है, किसी में उद्बुद्ध है। इन पर्वतादि को आप जड़ समझ रहे हैं, यह आपकी बड़ी भारी भूल है। उनमें चेतना अवश्य है, परन्तु दबी हुई है। एक गूंगा मनुष्य बोल नहीं सकता, तो क्या उसमें बोलने का सामर्थ्य नहीं है? हम उसे बोलता नहीं देखते इसका एकमात्र कारण इन्द्रिय-दोष है। उसमें इन्द्रियां नहीं हैं, अतएव वह नहीं बोल सकता। ठीक इसी प्रकार पाषाणादि में चैतन्य मौजूद है, परन्तु इन्द्रियां नहीं हैं अतएव वह काम नहीं कर सकता। काम करना इन्द्रियों का धर्म्म है, न कि मन-प्राण का। ऐसे में अनिन्द्रिय पदार्थों को वैदिक परिभाषानुसार

असंज्ञ कहा जाता है। उनकी चेतना इतनी दब गई है, इतनी दब गई है कि उसका जरा भी भान नहीं होता है। यह तो हुई अनुमान की बात, अब लीजिए प्रत्यक्ष की। जिन्हें आप जड़ समझ रहे हैं, वे पदार्थ प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, यह बात तो आपको भी माननी ही पड़ेगी। अन्यथा, नई-पुरानी की व्यव-स्था बन ही नहीं सकती। जिन्हें आप जड़ समझ रहे हैं, उनमें प्रतिक्षण क्रिया हो रही है, जिसका कि विस्तृत विवेचन 'सत्य कृष्ण रहस्य' में अनेक जगह कर दिया गया है। इसीलिए "**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**" यह कहा जाता है। क्रिया, प्राण–व्यापार है, प्राण–व्यापार बिना मन के हो नहीं सकता। ऐसी हालत में अवश्य ही आपको मन की सत्ता जड़ पदार्थों में भी माननी पड़ेगी। वास्तव में देखा जाय तो विज्ञानकाण्ड में जड़ कोई चीज नहीं है, न सब चेतन है। "आत्मैवेदंसर्वम्", "ब्रह्मैवेदंसर्वम्"—हमारे विज्ञान कांड का यही घण्टाघोष है। "चिदात्माऽनिन्द्रियेष्वपि"–यही हमारा सिद्धांत है। "**स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः**"–आत्मा का यह लक्षण बतलाया जाता है एवं "आत्मैवेदं सर्वम्"—यह कहा जाता है। ऐसी अवस्था में जड़ तत्त्व की सत्ता स्वीकार की जा सकती है क्योंकि "**शृणोतुग्रावाणः**" "क्षुरितेनैनं हिंसीः" "औषधेत्रायस्व"—ऐसे-ऐसे वाक्य हजारों जगह आते हैं। भला, पत्थर में यदि चैतन्य न होता तो शृणोतुग्रावाणः— कैसे कहा जा सकता था ? यह तो हुई असंज्ञ जीवों की कथा। दूसरा विभाग है अन्तःसंज्ञ जीवों का। औषधि-वनस्पतियां अन्तःसंज्ञ कहलाती हैं। पाषाणादि में एक भी इन्द्रिय उल्वण नहीं है, अतएव उन्हें असंज्ञ ही कह दिया जाता है, परन्तु औष-धिवनस्पत्यादि में चूंकि एक त्वगिन्द्रिय उल्वण है, अतएव इन्हें अन्तःसंज्ञ कहा जा सकता है। स्वप्नावस्था में जो हमारी अर्थात् ससंज्ञ जीवों की हालत रहती है, वही हालत वृक्षों की हर वक्त रहती है। स्वप्नावस्था में त्वगिन्द्रिय से जैसे हम जाग उठते हैं, फड़फड़ा जाते हैं, तथैव वृक्ष भी अग्नितापादि के सम्बन्ध से मुरझा जाते हैं। वृक्ष केवल त्वगिन्द्रिय से सारा काम लेते हैं। इसीलिए भग-वान् मनु कहते हैं—"अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते..........इति।"—वृक्ष चेतन हैं, उनमें आत्मा है, इसीलिए भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

ऊष्मातोम्लायते वर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च ।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥

वाय्वग्न्यशनि निर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्मात् श्रृण्वन्ति पादपाः ॥

कूप्याकूप्यैतथा गन्धैर्धूपश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥

पादैः सलिल पानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥

वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वे जलमाददेत् ।
तथापपयन संयुक्तपादैः पिबन्ति पादपाः ॥

सुखदुःखयोश्चग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥

परन्तु इसमें इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि वृक्षों में उल्व केवल त्वगिन्द्रिय है । त्वगिन्द्रिय के अभिप्राय से श्रृण्वन्ति, पश्यन्ति, समझन चाहिए । इस वृक्ष चैतन्य पर भी पाश्चात्य जगत् हँसी उड़ाता था । परन् भारत माता का सपूत लाडला पुत्र सर जगदीश चन्द्र वसु माता की ओर इसका समुचित उत्तर देने के लिए प्रेरित किया गया । प्रारम्भ में इस मह पुरुष की बड़ी हँसी की गई परन्तु अन्त में नतमस्तक हो कर भारत के अना दिकाल से प्रचलित इस वृक्ष चैतन्य को स्वीकार करना पड़ा । आज यही वन स्पति विज्ञान "बॉयलोजी" नाम से प्रसिद्ध है एवं हर एक कॉलेज में इ बॉयलोजी की शिक्षा दी जाती है । अभी पाश्चात्य जगत् रिसर्च कर रहा है समय आने वाला है जिस दिन वह भारत की प्रत्येक बात को नतमस्तक ह कर मानेगा, अवश्य मानेगा । बेलड़ी पेड़ के लिपट जाती है, क्या यह बि मन के हो सकता है ? आकर्षण से ऐसा हो जाता है, पाश्चात्यों का यह उत्त एकदम रद्दी है । हम पूछते हैं—आकर्षण क्यों होता है ? आकर्षण मन

का धर्म्म है। आकर्षण तब तक नहीं बन सकता जब तक कि मन की सत्ता न मान ली जाय। अस्तु, सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि विज्ञानकाण्ड में कोई जड है ही नहीं। सब में मन मौजूद है। मन से जड चेतन की व्यवस्था नहीं है, अपितु जड चेतन व्यवस्था इन्द्रियों की अपेक्षा से है। जैसा कि महर्षि चरक कहते हैं—**"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्"**। अनिन्द्रिय है, इससे मन नहीं है, यह हर्गिज नहीं समझना चाहिए। संसार के यच्चयावत् पदार्थों में मन बैठा हुआ है। सारा विश्व मन के अधीन है। वाक् की अपेक्षा प्राण बलवान है परन्तु यह मन प्राण से भी बलवान, अर्थात् बलवान से भी बलवान है। मन की शक्ति के सामने सारा मैटीरियल जगत् तुच्छ वस्तु है। इसी अभिप्राय से वेद भगवान् कहते हैं—

मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यस्य वशमिदमन्वियाय।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् सन्तेजुषाण उपयज्ञमात्रात्॥

सारा संसार—भूः भुवः स्वः महः जनत् तपः सत्य—सातों लोक इस मन के, श्वोवसीयस ब्रह्म के, वश में हैं। परन्तु याद रक्खो, मन किसी के भी वश में नहीं है। मन किसी की भी पकड़ में नहीं आता। अभी-अभी मन ने घोड़े को पकड़ रखा है, अभी घोड़े को छोड़ देता है, हाथी के आकार में परिणत हो जाता है। दूसरे ही क्षण में पर्वताकाराकारित हो जाता है। इस प्रकार मन किसी की भी पकड़ में नहीं आता परन्तु सारा विश्व इसी की पकड़ में रहता है। इसी अव्यय मन का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् कहते हैं —

मयाततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि नचाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। (भ. गी. ९।४)

भगवान् कहते हैं—सारे भूत मेरे में हैं परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। अन्त में और असंगता बतलाते हुए कहते हैं कि वास्तव में भूत मेरे में भी नहीं हैं। मैं सर्वथा असंग हूँ। रहता हुआ भी नहीं रहता हूँ, यही तात्पर्य है। यह मन तिल पर जा कर तिल के माफिक ही रूप धारण कर लेता है, पर्वत पर जा कर

पर्वताकार में परिणत हो जाता है। यह बड़ा ही भयंकर देवता है। इसके स्वरूप को पहचानना बड़ा ही कठिन है। मन ताकतवरों से भी ताकतवर है। मन के पॉवर के सामने सारे संसार के पॉवर (शक्तियाँ) रद्दी चीज हैं। ऐसा यह मन प्रसन्न होता हुआ मेरे यज्ञ में आया है—यही मंत्र श्रुति का अर्थ है।

इस अव्यय के मन–विज्ञान–आनन्दमय ज्ञान भाग में विद्या शब्द प्रयुक्त होता है। आनन्द–विज्ञानमय इस ज्ञानाव्यय को "विद्या" शब्द से व्यव-हृत किया जाता है एवं इसी को अकर्म्म भी कहा जाता है। ज्ञान शुद्ध निः-ष्क्रिय पदार्थ है। अतएव ज्ञानाव्यय को हम अवश्य ही अकर्म्म कहने के लिए तैयार हैं। आनन्द-विज्ञान का नाम ज्ञानाव्यय है। आनन्द, विज्ञान दोनों ही में क्रिया नहीं है। दोनों विकास स्वरूप हैं। 'जानाति' से ज्ञान क्रिया स्वरूप है, इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। जानाति तो इन्द्रिय–व्यापार का नाम है। क्रिया, इन्द्रिय का व्यापार है, ज्ञान तो तज्जन्य है, भला वह कैसे सक्रिय हो सकता है? ज्ञान के लिए क्रिया होती है, ज्ञान में क्रिया होती है; ज्ञान, क्रिया थोड़े ही है? रस में बल रहता है, न कि रस ही बल है। अमृत में मृत्यु रहता है, न कि अमृत ही मृत्यु है। विद्या में अविद्या रहती है, न कि विद्या ही अविद्या है। एवमेव ज्ञान में कर्म्म होता है, न कि ज्ञान कर्म्म है। अतएव हम ज्ञान को अकर्म्म कहने के लिए तैयार हैं—

तत्रैतस्मिन् अव्ययस्य मनोविज्ञानानन्दमयेज्ञानभागे विद्याशब्द उपचर्य्यते—अकर्म्मशब्दश्च ।

एवं अविद्या से, कर्म्म से, मन–प्राण–वाक् इन तीनों के द्वारा मृत्यु का स्वरूप उत्पन्न होता है। इस मन–प्राण–वाक् की समष्टि को ही कर्म्मयोग पक्ष कहते हैं एवं विद्या से, अर्थात् ज्ञान से मनोविज्ञानानन्द द्वारा अमृत स्वरूप का प्रादुर्भाव होता है। यही ज्ञानयोग पक्ष है। अमृत और मृत्यु दो ही तो पक्ष हो सकते हैं, दो के अलावा बाकी तीसरी चीज ही क्या है?

अविद्यया मनः प्राणवाग्भिर्मृत्युरूपं प्रवर्त्तते । सोऽयं कर्म्मयोगपक्षः । विद्यया तु मनोविज्ञानानन्दैरमृत रूपं प्रवर्त्तते-सोऽय ज्ञानयोगपक्षः ।।

बस, गीता से पहले यही दो पक्ष प्रचलित थे। एक कहता था कि कर्म्म-प्रपञ्च मृत्युस्वरूप है, ज्ञान का विरोधी है। ज्ञान ही असली तत्त्व है, अतएव उसे ही जानना चाहिए। आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए। कर्म्म ज्ञान में प्रतिबन्धक है, अतएव उसे एकदम छोड़ देना चाहिए। बस, इसी का नाम ज्ञानयोग है। इसी को सांख्ययोग भी कहते हैं। सर्व-कर्म्म-परित्याग ही इस ज्ञानयोग का सिद्धान्त है। उधर कर्म्मवादी कहते हैं कि संसार का आनन्द ही तो आनन्द है। बुरे कर्म्म करने में पाप है। जिन कर्म्मों के करने से स्वर्ग-सुख मिलता है, उन्हें छोड़ना मूर्खता है। अतएव, हमारे खयाल से कर्म्मयोग ही अच्छा है, बस, गीता से पहले यही शुद्ध ज्ञानयोग और शुद्ध कर्म्मयोग पक्ष ही प्रचलित थे। जैसा कि भगवान् स्वयं अपने मुँह से कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता २।३)

वास्तव में ज्ञानयोग और कर्म्मयोग अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। दोनों मत बिलकुल उत्तम हैं, प्रशस्ततर हैं, प्रशस्ततर ही नहीं, प्रशस्ततम हैं। परन्तु दोनों में से एक को ग्रहण करना, अन्य का परित्याग करना बिलकुल बुरा है। इससे कुछ भी फल नहीं हो सकता। केवल ज्ञानयोग भी व्यर्थ है और केवल कर्म्म-योग भी व्यर्थ ही है। सार्थक है दोनों का मिश्रणभूत बुद्धियोग। बस, यही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। ज्ञान-कर्म्म दोनों का खण्डन करके भगवान् ने इसी बुद्धि-योग को स्थापित किया है। इसीलिए गीता में केवल कर्म्मयोग पक्ष या केवल ज्ञानयोग पक्ष—दोनों ही की निन्दा की गई है एवं दोनों का जो साहचर्य्य है, उसे ही भगवान् ने अच्छा माना है, जैसा कि गीता के निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध होता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

प्रशस्ततमोऽप्ययमुभयोऽन्यतरनिरपेक्षं प्रवर्त्तमानो नातीवहितायकल्पते। अतएव गीतायां कर्म्मयोगपक्षो ज्ञानपक्षो वाऽन्यतरनिरपेक्षः केवलो विगर्ह्यते। उभयस्तु सहकृतः प्रशस्यते। तथाहि—

"त्रैगुण्यविषया वेदानिस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ (गीता २।४५)

हे अर्जुन ! वेदों में सत्त्व, रज, तम तीनों गुण भरे हुए हैं। सत्त्व, रज, तम तीनों ही आत्मस्वरूप के बाधक हैं, अतएव तू निस्त्रैगुण्य हो जा। वेदों के प्रपञ्च में न पड़ कर नित्य स्वत्वस्थ एवं सुख-दुःखादि द्वैतभावों से अलग हो कर योगक्षेम आदि भावों में न पड़ कर आत्मज्ञानी बन जा। वेद वास्तव में त्रैगुण्यविषयाक्रान्त हैं। "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामोयजेत्।"—यह वेद की विधि है। इस विधिवाक्य से आत्मा बन्धन में फंसता है। आसक्ति ही, फल-कामना ही, बन्धन में डालने वाली है। वेद फल-प्रधान हैं। जिसे पुत्र की इच्छा हो, वह पुत्रेष्टि करे, जिसे वर्षा की इच्छा हो, वह कारीरा इष्टि[1] करे, जिसे स्वर्ग-सुख प्राप्त करना हो, वह सोमयाग करे। इस प्रकार, सारा वेद कामना से भरा है। कामना ही सत्त्व, रज, तम गुणों को उत्पन्न करती है। कामना से ही आसक्ति अर्थात् ममत्व पैदा होता है। ममता ही बन्धन में डालती है। अतएव भगवान् कहते हैं कि—अर्जुन ! जिन वैदिक कर्म्मों से गुणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है, ऐसे गुणों को एकान्ततः छोड़ देना चाहिए। तुझे योगक्षेम की चिन्ता में पड़ कर आत्मा को बन्धन में नहीं डाल देना चाहिए। यदि फलाना (अमुक) कर्म्म करूँगा, यदि फलाना यज्ञ करूंगा, तो धन-प्राप्ति होगी, तुझे हर्गिज इस चक्र में नहीं पड़ना चाहिए—क्योंकि ये सारे कर्म्म ही बन्धन में डालने वाले हैं। तुझे तो केवल आत्मनिष्ठ ही बनना चाहिए, अर्थात् कर्म्मकाण्ड की ओर लक्ष्य न दे कर ज्ञान की ही उपासना करनी चाहिए। भगवान् फिर कहते हैं—

दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ (गीता २।४।६)

हे अर्जुन, बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म्मयोग नीचे दर्जे की वस्तु है। इसलिए तुझे बुद्धि की शरण में आ जाना चाहिए। हे अर्जुन! फल, कामना रखने वाले कृपण होते हैं, पूंजी रख कर दिवाला निकालते हैं। इस श्लोक से तो भगवान् स्पष्ट ही बुद्धियोग की स्थापना कर रहे हैं। पूर्वार्द्ध से ज्ञानयोग अभिप्रेत है, उत्तरार्द्ध से कर्म्मयोग अभिप्रेत है। भगवान् कहते हैं—कर्म्मयोग से बुद्धियोग

१. 'आरब्धायां कारीर्य्यां वर्षणे सति सा समापनीया नवेति सन्देहे' कात्यायन श्रौतसूत्र १।२।२२

श्रेष्ठ है, इससे सिद्ध होता है कि कर्म्मयोग बुरा है, ज्ञानयोग अच्छा है, परन्तु उसी के अनन्तर भगवान् कहते हैं कि भाई, फल की कामना रखने वाले कृपण हैं। इससे भगवान् सूचित करते हैं कि "दूरेणह्यवरंकर्म्म" से कहीं यह मत समझ बैठना कि ज्ञानयोग ही अच्छा है, कर्म्मयोग को एकदम छोड़ देना चाहिए। नहीं, नहीं; कर्म्म खूब करना चाहिए। किन्तु फलाशा, कामना, आसक्ति का परित्याग कर देना चाहिए। जो फलाशापूर्वक आसक्ति रख कर कर्म्म करते हैं, वे कृपण हैं, मूंजी हैं। जैसे अतुल सम्पत्ति पास में रहने पर भी मूंजी सदा दुःख ही पाया करता है, तद्वत् मोक्ष-मार्ग का साधनभूत निष्कामकर्म्म स्वरूप द्रव्य मौजूद रहने पर भी फल के चक्र में पड़ कर मूर्ख लोग सदा दुःख ही पाया करते हैं। इसलिए फलाशा छोड़कर कर्म्म करना चाहिए। इससे सिद्ध हो जाता है कि भगवान् को दोनों का साहचर्य्य ही अपेक्षित है। कर्म्म खूब करो, परन्तु आसक्ति को छोड़ दो, बस यही बुद्धियोग है। सर्वकर्म्म–परित्याग–स्वरूप ज्ञानयोग में, सन्यासयोग में, कर्म्मयोग को शामिल कर देना चाहिए एवं फलासक्तिरूप कर्म्मयोग में से फल का त्याग कर देना चाहिए। यही बुद्धियोग है। आसक्ति छोड़ने से संन्यासयोग बन जाता है, कर्म्म करने से कर्म्मयोग बन जाता है। इस प्रकार ज्ञानकर्म्म दोनों का समुच्चय हो जाता है। यही भगवान् का अपना मत है।

कर्म्म किए बिना काम नहीं चल सकता, परन्तु कर्म्म करने से आत्मा पर मैल तो अवश्य ही चढ़ जायगा। आखिर कर्म्म भी तो मल ही है। मल का असर बिना हुए कैसे रह सकता है? काच पर चाहे आँखें मींच कर बिना आसक्ति के ही स्याही डालो, क्या इससे काच मैला नहीं होगा? होगा, और अवश्य होगा। ऐसी हालत में हम कह सकते हैं कि निष्काम कर्म्म भी एक प्रकार से मुक्ति का बाधक ही है। ऐसे सन्देह में कोई न पड़ जाय, इस अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥ (गीता ४।३७)

प्रज्वलित अग्नि जैसे काष्ठसमूह को जला डालता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सारे कर्म्मों को जला डालता है। लोटे के ऊपर के मैल को उतारने

के लिए पहले मैल ही लगाना पड़ता है। मिट्टी से रगड़ते-रगड़ते पहले का सारा मैल कट जाता है तो ऊपर से मैल साफ करने के लिए लगाई गई मिट्टी भी उतर जाती है। लोटा साफ हो जाता है। जिस दियासलाई से तृण-समूह को जलाने के लिए अग्नि उत्पन्न किया जाता है वह अग्नि तृण-समूह के साथ-साथ उस दियासलाई को भी जला डालता है। बस, ठीक इसी प्रकार कर्म्म-विनाश के लिए, कर्म्म से उत्पन्न जो ज्ञान है, वह वैसे ही पहले के कर्म्मों को नष्ट कर देता है, तथैव इन साधक कर्म्मों को भी नष्ट कर देता है। अतएव कर्म्म करने से अन्त में मल चढ़ेगा ही, यह प्रश्न हो ही नहीं सकता।

प्रश्न होता है कि, अच्छा यह ज्ञान उत्पन्न कब होता है? कब तक निष्काम कर्म्म किए जाएँ, इसकी भी कोई मर्य्यादा है या नहीं? इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ (गीता ४।३८)

भगवान् कहते हैं कि कब तक ज्ञान-प्राप्ति के लिए कर्म्म करते ही जाएँ चलो, छोड़ो इस झगड़े को। कहीं इस मूर्खता में मत फँस जाना, क्यों कि जो वस्तु उत्तम होती है, वह कठिनता से ही मिलती है। जब लौकिक पदार्थों की प्राप्ति में ही बड़ी कठिनता होती है तो फिर ज्ञान के लिए तो कहना ही क्या है? ज्ञान के सदृश संसार में कोई दूसरी पवित्र वस्तु है ही नहीं। ऐसी वस्तु के मिलने में यदि एक जन्म नहीं, पांच-सात जन्म लग जाएँ तब भी कोई हर्ज नहीं है। ज्ञान उत्पन्न कब होगा, यदि यह पूछते हो तो इस का उत्तर यही है कि जिस दिन कर्म्मयोग सिद्ध हो जाता है, सारे कर्म्म कट जाते हैं, उस दिन वह अपने-आप चमक पड़ता है। अरणि-मन्थन किए जाओ, जब मन्थन क्रिया पराकाष्ठा पर पहुँच जायगी तो अपने-आप उसमें से अग्नि निकल पड़ेगी। किसी का कर्म्म-प्रपञ्च बहुत ज्यादा है, किसी का थोड़ा है, ऐसी हालत में किसी के कर्म्म-क्षय के लिए एवं ज्ञानोदय के लिए समय नियत नहीं किया जा सकता। अन्त में भगवान् ज्ञान पर जोर देते हुए कहते हैं—

सर्वंज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ (गीता ४।३६)

—हे अर्जुन ! तू ज्ञान की नौका से ही सारे पापों से तर कर परली पार चला जाएगा। इससे कोई यह न समझले कि ज्ञानयोग गीता का प्रधान विषय है एवं कर्म्मयोग सहकारी कारण है। इसी संशय का खण्डन करते हुए भगवान् कहते हैं—

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
नच संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्म्मकृत् ।
कार्य्यतेह्यवशःकर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ (गीता ३।४।५)

भगवान् कहते हैं—कर्म्म के बिना नैष्कर्म्य-प्राप्ति हो ही नहीं सकती। मैल, मैल से निकलता है; काँटा, काँटे से निकालता है। तथैव, कर्म्मबन्धन को काटने का एकमात्र साधन कर्म्म ही है। खाली संन्यास से, सर्वकर्म्म परित्यागस्वरूप संन्यास से, सिद्धि हो ही नहीं सकती। यही क्यों, हम तो यह तक कहते हैं कि संसार का कोई भी प्राणी, कोई भी पदार्थ, चाहे वह जड़ हो या चेतन हो, क्रिया से शून्य नहीं रह सकता। रहे कैसे ? आत्मा पञ्चकल है। उसमें मन्-प्राण-वाक्-स्वरूप आधा भाग कर्म्म का बैठा हुआ है। ऐसी अवस्था में, कर्म्म कैसे बन्द हो सकता है ? जिस दिन कर्म्म नष्ट हो जायगा, क्रियाबन्द हो जायगी, उस दिन पदार्थ ही नष्ट हो जायगा। प्रकृति से उत्पन्न गुण से सारा प्रपञ्च बाध्य हो कर अनवरत कर्म्म किया करता है। प्रकृतिज कहने का अभिप्राय यही है कि कर्म्म-सत्त्व, रज, तम प्रकृति के अनुसार बँटे हुए हैं। सांप की प्रकृति है जहरीली तो वह तदनुकूल ही कर्म्म करेगा। अमृत की प्रकृति है जहर को शान्त करने की, तो वह तदनुकूल ही कर्म्म करेगा। परन्तु कर्म्म करना पड़ेगा सबको। भला, ऐसी अवस्था में कर्म्म-परित्याग क्यों कर किया जा सकता है ? इसलिए भगवान् अर्जुन के बहाने संसार को उपदेश देते हैं—

नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायोह्यकर्म्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः ॥ (गीता ३।८)

—हे अर्जुन ! इसलिए तू नियत कर्म्म कर। अकर्म्म से कर्म्म करना, न करने से कुछ करना हजार दर्जे अच्छा है। यदि तू कर्म्म नहीं करेगा, तो

तेरा शरीर तक स्वस्थ न रहेगा। क्रिया भी मनुष्य की खूराक है। सातों अन्नों में क्रिया भी अन्न है। क्रिया भी अन्न नहीं है, क्रिया ही प्रधान अन्न है। जौं, गेहूं आदि अन्न भी काम करने से ही, क्रिया से ही मिलते हैं। नियतंकुरु कर्म्मत्वं से भगवान् शास्त्रविहित कर्म्म करने की ओर इशारा कर रहे हैं। ऐसे निष्काम कर्म्मयोग को कर के आज तक किसी ने कुछ फायदा उठाया या नहीं अथवा यह खाली कहना ही कहना है, इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तु मर्हसि ।। (गीता ३।२०)

अन्त में, साफ शब्दों में, बुद्धियोग की स्थापना करते हुए भगवान् कहते हैं—**कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः ।** ।। इति ।।

बात वास्तव में ठीक है। ज्ञानाविनाभूत कर्म्म, एवं कर्म्माविनाभूत ज्ञान ही अव्ययात्मत्व है। अर्थात् अव्ययात्मा में आधा हिस्सा ज्ञान का है एवं आधा हिस्सा कर्म्म का है, एवं दोनों हिस्से सदा साथ रहते हैं। दोनों मिल कर जब एक आत्मा कहलाता हैं, तो ऐसी हालत में दोनों (ज्ञान-कर्म्म) पृथक् क्यों कर रह सकते हैं ? ऐसी अवस्था में ज्ञान की अपेक्षा न रख कर केवल कर्म्म का, अथवा कर्म्मनिरपेक्ष केवल ज्ञान का, एकदेशित्वेन, दोनों में से केवल एक के आलम्बन में, दोनों ही की असिद्धि है। इस प्रकार शुद्ध ज्ञान योग और शुद्धकर्मयोग में, उभयासिद्धि स्वरूप महादोष रहता है। बात सच है। गुरुजी का माथा भी गुरुजी है, गुरुजी के पैर भी गुरुजी हैं। माथा ज्ञानभाग है, पैर कर्म्मभाग हैं। ऐसी अवस्था में यदि कोई गुरुजी के माथे की तो पूजा करे और पैरों को काट डाले तो क्या ऐसी पूजा से फल मिलेगा ? हर्गिज नहीं। एवमेव यदि कोई पैर की पूजा करता है और मस्तक को काटता है तो क्या गुरुजी उस पर प्रसन्न होंगे ? बस, ठीक यही हाल ज्ञान-कर्म्म इन दोनों की पृथक्तया उपासना करने की दोषपूर्ण स्थिति में है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

युक्तंचैतत् ज्ञानाविनाभूतकर्म्मणः कर्म्माविनाभूतज्ञानस्याव्ययात्मत्वमस्तीति कृत्वा ज्ञानानपेक्षकर्म्मणः कर्म्मानपेक्षज्ञानस्य वाकेवलस्यैकदेशित्वेन तदेकैकमात्रालम्बने भवत्युभयासिद्धिर्महान् दोषः ।

इसी अभिप्राय से कहा भी जाता है—

नाभौ विष्णुर्हृदि ब्रह्मा प्राणिनां शिरसीश्वरः ।
एषामन्यतमापाये सर्वापायः समंभवेत् ।

नाभि में विष्णु रहते हैं, हृदय में ब्रह्मा रहते हैं, शिरोगुहा में प्रज्ञानात्मा रहते हैं। इन्हीं को महादेव शिव कहा जाता है। ये तीनों प्राण एक-एक प्रादेशों के फासले पर हैं। प्रादेश १०½ अंगुल का होता है। "**सभूमिं सर्वतस् स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्**"—यह सिद्धांत है। तीनों का स्थान भिन्न-भिन्न है। परन्तु हम कहते हैं—माथे में खूब तेल लगाओ, माथे की खूब रक्षा करो, परन्तु हृदय में तीर मार दो, देखें कैसे मस्तक का प्राण बच सकता है। एवमेव छाती की, हृदय की खूब रक्षा करो, परन्तु माथे में एक लट्ठ मार दो, देखें कैसे शिवजी की रक्षा होती है? एक के नाश से तीनों का नाश हो जाता है। ठीक इसी प्रकार, ज्ञानयोग का आश्रय ले कर जो कर्म्मयोग की निन्दा करता है, या कर्म्मयोग का परित्याग करता है, अथवा कर्म्मयोग को स्वीकार कर ज्ञानयोग की निन्दा करता है, उसकी भी यही हालत होती है।

अपि च जिस मनुष्य के शरीर का पूर्वभाग अथवा पश्चिमभाग नष्ट हो जाता है, चोट खा जाता है तब या तो वह मर जाता है या बीमार हो जाता है। ज्ञान, अव्यय पुरुष का पूर्वार्द्ध है, कर्म्म, परार्द्ध है। दोनों में से एक के भी परित्याग से दूसरा स्वयं नष्ट हो जाता है—

"यस्य देहस्य पूर्वार्द्धं परार्द्धं वा विपद्यते ।
प्रमीयते स पुरुषः पापीयान् वा प्रजायते ।।

अपि च, जिस प्रकार एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, एवमेव बिना पुरुषार्थ के, कर्म्म के, दैव अर्थात् ज्ञान प्राप्ति कभी नहीं हो सकती—यह सिद्धांत समझना चाहिए—

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्यगतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति । इति ।

ज्ञान और कर्म्म दोनों परस्परानुस्यूत हैं । अतएव न ज्ञान बिना कर्म्म-योग की सिद्धि हो सकती है, न कर्म्म बिना ज्ञानयोग की सिद्धि ही हो सकती है—

न ज्ञानेन विना कर्म्म न ज्ञानं कर्म्मणा विना ।
परस्परानुस्यूतत्वात् नैकादपि हि सिध्यति ॥

इसीलिए विद्या और अविद्या दोनों को सदा सत्य समझना चाहिए । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (ई० उ० ११)

सारे कथन का सार यही समझना चाहिए कि कर्म्मयोग में प्रवृत्त मनुष्य को कभी भी, भूल कर भी, ज्ञानयोग का तिरस्कार किंवा द्वेष नहीं करना चाहिए एवं ज्ञानयोग में प्रवृत्त मनुष्य भी कर्म्मयोग से कभी द्वेष न करे क्योंकि ज्ञान और कर्म्म–दोनों से अव्ययात्मा का स्वरूप बना हुआ है। ऐसी अवस्था में एक से द्वेष करने से, या केवल एक के स्वीकार से, कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती । अतः बुद्धियोग का ही आश्रय लेना चाहिए—

तथा च कर्म्मसु प्रवर्त्तमानो न ज्ञानं तिरस्कुर्य्यात् । ज्ञानमेवा प्रवर्त्तमानो न कर्म्मविद्विष्यात् । उभाभ्यामेवात्मनः समारम्भादेकतरमात्रे-णात्मनः सिद्धेरसंभाव्यमानत्वात् ।

अव्ययात्मा ही उपास्य है, एवं अव्ययात्मा कर्म्मज्ञानमय है । उसका आधा हिस्सा कर्म्ममय है, आधा ज्ञानमय है । इस प्रकार अव्यय ज्ञानकर्म्मा-त्मक है । ज्ञान प्रजापति के शरीर का पूर्वार्द्ध है, कर्म्म अपरार्द्ध है । दोनों अविनाभूत हैं । जो शुद्ध ज्ञानवादी हैं, कर्म्म को एकान्ततः छोड़ देना चाहते हैं, जिन्होंने सर्वकर्म्म परित्याग लक्षण संन्यास को ही संन्यास मान रखा है, वे आत्मा के आधे हिस्से का सर्वनाश करना चाहते हैं । श्रुति का वास्तविक तात्पर्य्य न समझ कर, शब्दमात्र के चक्र में पड़ कर कर्म्मखण्डन करते हुए सर्वकर्म्म परित्यागी को संन्यासी कहते हैं—

न कर्म्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेणनाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति ।।इति।।

(कै० उ० ३)

इस प्रकार ऐसे-ऐसे निदर्शन बतला कर वे लोग एकान्ततः कर्म्म पक्ष का खण्डन करना चाहते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान प्रकाशस्वरूप है, कर्म्म तमस्वरूप है, प्रकाश को ढकने वाली काली चद्दर है। जब तक यह रहेगी, ज्ञान का स्वरूप उल्वण नहीं हो सकता। कर्म्म, ज्ञान का विरोधी है, अतएव आत्मज्ञान के लिए, कर्म्म की अपेक्षा करना बिल्कुल मूर्खता है। ज्ञान के लिए कर्म्म करना, ज्ञान स्वरूप आत्मा को उल्टा कर्म्म-बन्धन में डालना है। अत–एव आत्मज्ञान-पिपासु को जरा भी कर्म्म नहीं करना चाहिए। बस यह उन ज्ञानवादियों का मत है। इस प्रकार जो सांख्यवादी कर्म्मपक्ष को एकान्ततः छोड़ना चाहते हैं, हमारे खयाल से वे गलत रास्ते पर हैं। कर्म्म को एकदम छोड़ देना चाहिए, उनका यह कहना बिल्कुल निस्सार है। ज्ञान प्रकाश स्व–रूप है यह भी हम मानते हैं, एवं कर्म्म तमस्वरूप है, यह भी मानते हैं। परन्तु ज्ञान पर जो कर्म्म की चद्दर लग गई है, जिसके लिए कि उपासना की जाती है, वह कर्म्म बिना कैसे हट सकती है ? कर्म्म को हटाने के लिए कर्म्म ही करना पड़ता है। बिना कर्म्म के ज्ञानोदय नैष्कर्म्य सम्पत्ति कभी प्राप्त हो ही नहीं सकती। कर्म्म को हटाने के लिए भी कर्म्म करना पड़ता है, यह बात केवल समझाने के लिए कह दी गयी है, वास्तव में कर्म्म कभी हटा नहीं करता, जैसे ज्ञान नित्य पदार्थ है, वैसे ही कर्म्म भी नित्य पदार्थ है। ज्ञान-कर्म्म समष्टि का नाम ब्रह्म है। कर्म्म हटने के लिए कर्म्म करना पड़ता है। इसका तात्पर्य यही है कि जो कर्म्म उल्वण हो गया था, उसे समभाव में परिणत करने के लिए कर्म्म ही करना पड़ता है। समीक्रिया ही में आनन्द है। आन-न्द ही आत्मा का साक्षात् स्वरूप है। कर्म्मभाग, ज्ञानभाग दोनों को समान कर देने का नाम ही बन्धन-मुक्ति है। इसीलिए लोक में कहा जाता है कि जिस दिन पाप-पुण्य बराबर हो जाएँगे, उसी दिन मोक्ष हो जाएगा। बड़े आश्चर्य की बात है, जो कर्म्म आत्मा का स्वरूप है, जिसके बिना आत्मा की सत्ता ही नहीं रहती, उस कर्म्म का परित्याग बतलाना कैसे हो सकता है ?

आत्मा, ज्ञानकर्म्म उभयात्मक है । गुरुजी के मस्तक में पुष्प-चन्दन लगा कर उनकी पूजा करना और साथ ही एक कुल्हाड़ी से उनके पैर भी काटते जाना जैसे उच्चोपासना है उसी प्रकार की अव्यय आत्मा के आधे ज्ञानभाग को मानना और कर्म्म भाग का त्याग करना यह अव्ययोपासना है । धर्मावतार ! आत्मस्वरूप को पहचानिए । आत्मा का स्वरूप कैसा है, जिस दिन यह पह–चान लिया जाएगा उस दिन आपका सारा ज्ञानवाद हवा हो जाएगा । आनन्द-विज्ञान-मन–प्राण–वाक्-समष्टि का नाम अव्यय पुरुष है । इनकी समष्टि का नाम ही आत्मा है । आनन्द–विज्ञान–मन ज्ञान भाग है, मन–प्राण–वाक् कर्म्म भाग है । इस प्रकार आत्मा ज्ञानकर्म्मोभयात्मक है । आनन्द–विज्ञान–मन ही को कोई आत्मा न समझले, इसके लिए श्रुति को कहना पड़ता है—

"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः"—वाक्–प्राण–मन का नाम ही कर्म्म है । एवं उसी कर्म्म को श्रुति आत्मा बतला रही है । भला, ऐसी अवस्था में, क्या कर्म्मों का त्याग बन सकता है ? कर्म्मों का त्याग करना आत्मा का परित्याग करना है । ज्ञान–कर्म्म–दोनों से अव्ययात्मा का स्वरूप बना है । दोनों अव्यय स्वरूप के आरम्भक हैं । अतएव जब तक आत्मा है, तब तक ज्ञान-कर्म्म दोनों को अवश्य ही रहना पड़ेगा । आत्मा हो, और कर्म्म न हो, यह हर्गिज नहीं हो सकता । दोनों सर्वथा अविनाभूत हैं । न ज्ञान के बिना कर्म्म रह सकता है न कर्म्म के बिना ज्ञान रह सकता है । इसी अभि–प्राय को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं —

येत्वेतं कर्मपक्षमेकान्ततः परित्यक्तुमिच्छन्ति न ते साधु पश्यन्ति एकान्ततः कर्मपरित्यागाशक्यत्वात् । उभाभ्यामेवात्मनोऽव्ययस्य स्वरूपारम्भा दुभयोरविनाभावात् ।

अतएव कर्म्मनिरपेक्ष सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण शुद्ध ज्ञानपक्ष एवं ज्ञान निरपेक्ष शुद्ध कर्म्मपक्ष, दोनों ही उत्तम नहीं कहे जा सकते । केवल कर्म्म ही करना चाहिए, उसमें ज्ञानमिश्रण की कोई आवश्यकता नहीं है । **"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामोयजेत"** इत्यादि विधि–वाक्यों के अनुसार स्वर्ग सुख की प्राप्ति के लिए खूब कर्म्म करना चाहिए । ज्ञान प्राप्ति के लिए सारे कर्म्मों का

परित्याग कर, जंगल में जाकर समाधि लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। कान-नाक भींचने से कुछ नहीं मिल सकता है। मिल सकता है कर्म्म करने से, हाथ-पैर हिलाने से। रोटी यदि सामने ही रक्खी है और हाथ-पैर नहीं हिलाते हैं तो इससे आपका पेट नहीं भर सकता। यदि दूसरा आदमी मुख में ग्रास दे भी देगा तो भी आपको मुँह अवश्य ही चलाना पड़ेगा। बिना कुछ किए आप कभी आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। कर्म्म ही से सुख मिलता है, जंगल में बैठने से नहीं। इस प्रकार के जो शुद्ध कर्म्मवादी हैं, भगवान् उनको भी हिकारत की नजर से देखते हैं। जैसे शुद्ध ज्ञानयोग के भगवान् विरोधी हैं, उसी प्रकार शुद्ध कर्म्मयोग के भी विरोधी हैं। **"न कर्मणामनारंभानैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते"** से भगवान शुद्ध ज्ञान योग का तिरस्कार करते हैं, परन्तु साथ ही में—

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वाधनञ्जय॥ (गीता २।४७)
तस्मादसक्तः सततं कार्यंकर्म्मं समाचर।
असक्तोह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोप्ति पूरुषम्॥ (गीता ३।१६)

इत्यादि वाक्यों से शुद्ध कर्म्मयोग का भी खण्डन कर रहे हैं। गीता से पहले अव्यय के स्वरूप को किसी ने नहीं पहचाना था। शारीरक सूत्रों की भी अव्यय की पराप्रकृति अक्षर पर ही जाकर सीमा समाप्त हो जाती है। इस अव्ययात्मा के आविष्कर्त्ता भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
योलोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ (गीता १५।१७)

से अव्यय का, उत्तम पुरुष का ज्ञान पहले भगवान् श्रीकृष्ण ने ही कराया है। भगवान् अव्यय के स्वरूप को पहचानते थे। पहचानते ही नहीं थे, खुद अव्ययस्वरूप थे। भगवान् जानते थे कि अव्यय में, ज्ञान-कर्म्म दोनों शामिल हैं। ऐसी अवस्था में यदि कर्म्म को छोड़ दिया जाता है, तब भी काम नहीं चलता एवं ज्ञान को छोड़ कर, केवल कर्म्म पर ही विश्राम किया जाता है

तब भी काम नहीं चल सकता। इसलिए कोई ऐसी तरकीब निकालनी चाहिए जिससे कर्म्म-परित्याग भी न हो, और ज्ञान–परित्याग भी न हो। बस, इस रास्ते को बतलाने के लिए ही, अर्जुन के बहाने, भगवान् श्रीकृष्ण ने संसार के यच्चयावत् मनुष्यों को यह मार्ग दिखला दिया। भगवान् कहते हैं, कर्म्म खूब करो, परन्तु इसमें से आसक्ति अर्थात् ममता और फलकामना को निकाल दो। बस, इससे न कर्म्म-परित्याग होगा, न ज्ञान-परित्याग। कर्म्म में से आसक्ति निकालने से ज्ञान-योग बनता है एवं कर्म्म करने से कर्म्मयोग बन जाता है। ज्ञानकर्म्म दोनों का समावेश हो जाता है। बस, इसी का नाम है बुद्धियोग। इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि ज्ञान-निरपेक्ष शुद्ध कर्म्मयोग अथवा कर्म्म-निरपेक्ष शुद्ध ज्ञानयोग, दोनों ही व्यर्थ हैं। केवल ज्ञानयोग से भी बन्धन नहीं खुल सकता। एवं केवल कर्म्म-योग से भी नहीं खुल सकता। खुल सकता है ज्ञान-कर्म्म दोनों के समन्वय से अर्थात् बुद्धि-योग से। बुद्धियोग ही एक ऐसा मार्ग है जिससे सीधा रास्ता मिल सकता है–

तस्मान्नकर्म्मपक्षनिरपेक्षः शुद्धोज्ञानपक्षो, न वा ज्ञानपक्षनिरपेक्षः शुद्धःकर्म्मपक्षः साधीयानुपयुज्यते।

ज्ञान-कर्म्म दोनों में विषमता कभी नहीं करनी चाहिए। ज्ञान-कर्म्म को एकदम समान भाव में रखना चाहिए। यदि ज्ञान भाग ज्यादा है तो कर्म्म में क्षोभ है, यदि कर्म्मभाग ज्यादा है तो ज्ञान में क्षोभ है। ज्ञान-कर्म्म दोनों ही तराज़ू के दो पलड़े हैं। यदि ज्ञान का पलड़ा भारी हो जाता है तो कर्म्म का पलड़ा क्षुब्ध हो पड़ता है, यदि कर्म्म का पलड़ा भारी हो जाता है तो ज्ञान का पलड़ा क्षुब्ध हो जाता है। तराज़ू में नाज (अनाज-सं०) तौलिए। यदि दोनों पलड़ों में बराबर अनाज रखा हुआ है, ५ सेर ही इसमें हैं और ५ सेर ही उसमें है, तो दोनों पलड़े शान्त भाव से प्रतिष्ठित रहेंगे। यदि एक में कम है, एक (दूसरे) में ज्यादा है तो कम वाला पलड़ा ऊपर उठ जायगा और हिलने लगेगा; प्रतिष्ठा से च्युत हो जायगा, क्षुब्ध हो पड़ेगा। क्षोभ का नाम अशान्ति है, अशान्ति का नाम ही दुःख है। एवं शान्ति का नाम ही सुख है। यह शान्ति समीक्रिया में ही हो सकती है। यदि जरा भी विषमता है, तो अशान्ति का राज्य है। यदि आप शान्ति चाहते हैं तो ज्ञान-कर्म्म दोनों को बराबर रखिए। ज्ञान-कर्म्म दोनों में से एक भी यदि ज्यादा-कम हो जायगा तो उसी समय

आत्मा क्षुब्ध हो जायगा। समीक्रिया में ही, समान भाव में ही शान्ति है। पुत्रों को पिता अपनी सम्पत्ति देता है। उस दाय-विभाग में यदि पिता जरा भी वैषम्य कर देता है तो उसी समय पुत्रों में घोर अशान्ति मच जाती है एवं साथ ही पिता का आत्मा भी अशान्त और दुःखपूर्ण हो जाता है। सम्पत्ति का विभाग बिल्कुल समान रूप से किया जाता है तो अशान्ति का नाम-निशान भी नहीं रहता। शान्ति का एकमात्र मूल कारण है समता। दस पुत्रों में से यदि पिता किसी पर विशेष प्यार करता है और किसी पर कम करता है, तो वह पुत्रों में परस्पर अशान्ति का बीज बोता है। इसी प्रकार रसोई में यदि भोज्य पदार्थों में विषमता की जाती है, तब भी अशान्ति का सागर उमड़ पड़ता है। पंक्ति-भेद करना अशान्ति का राज्य कायम करना है। यदि आप शान्ति चाहते हैं, सुख चाहते हैं, आनन्द चाहते हैं, तो पंक्तिभेद मत करिए। भोजनशाला में जितने भी पदार्थ बने हैं, उनका स्वाद सबको चखाइए। एक को षट्रस व्यंजन, दूसरे को बासी रोटी, ऐसा अनर्थ मत कीजिए। याद रखिए, ऐसा करना अपने हाथों अपना सत्यानाश करना है। रावण ने ११ रुद्रों में से १० रुद्रों को तो १० मस्तक चढ़ा दिए थे, परन्तु ग्यारहवें रुद्र को कोरा रख दिया था, अतएव उसी रुद्र ने हनुमान स्वरूप में अवतार ले, रावण का सर्वनाश कर डाला था। इसीलिए कवि कहता है—

"पंक्तेर्हि भेदो न पुनः शिवाय"।

एक गरम पानी का लोटा है परन्तु वह ऐसा गरम है कि उसमें हाथ भी नहीं लगाया जाता एवं एक ठंडे पानी का लोटा है, वह भी इतना ठंडा है कि उसमें भी हाथ नहीं लगाया जाता। एक तीसरा बड़ा पात्र ले कर आप दोनों लोटों के पानी को उसमें डाल दीजिए। गर्मी उस शीतता से शान्त हो जाएगी, शैत्य गर्मी से शांत हो जाएगा। दोनों में समीक्रिया हो जाएगी। जो पानी काटने को दौड़ता था, अब सुहाने लगेगा। इसका कारण समीक्रिया ही है। समीक्रिया में ही शान्ति है। शान्ति का नाम ही आनन्द है। आनन्द ही आत्मा का स्वरूप है। दूसरी ओर विषमता में अशान्ति है। अशान्ति का नाम ही दुःख है। दुःख ही आत्मा का विरोधी है। अतएव शान्तिमूला समी-

क्रिया में कभी विघ्न नहीं करना चाहिए। ज्ञान-कर्म्म में यदि जरा भी विषमता आ जाएगी तो उसी क्षण अशान्ति का राज्य हो जाएगा, क्यों कि विषमता से ही क्षोभ होता है, हलचल होती है एवं यह क्षोभ ही क्लेश का कारण है। अतएव ज्ञान-कर्म्म दोनों को सहभावेन, समानभावेन आत्मसात् करना चाहिए। दोनों समीक्रिया समाराध्य हैं। ज्ञान-कर्म्म दोनों की समभाव से आराधना करनी चाहिए। इसी में शान्ति है, शान्ति का नाम ही आनन्द है–

नत्वेवैतयोर्वैषम्यंनेयम् । वैषम्यस्यविक्षुब्धरूपतया क्लेशावहत्वात् । तस्मादुभयसहकारेणोभयं समाराध्यम् ।

ज्ञान और कर्म्म का जो समत्व है, उसी को योग कहा जाता है। भगवान् ने ज्ञान–कर्म्म की समता को ही योग कहा है। समता नहीं होने से क्षोभ होता है। इसी क्षोभ का नाम है विचाली भाव। बस, इस विचाली भाव का नाम ही तो भय है। भय ही तो दुःख का मूल है। आत्मा जगह छोड़ देता है, इसी का नाम भय है। कम्पन का नाम भय है एवं स्थिति-विच्युति का ही नाम भय है। भय ही दुःख का मूल है। सामान्य भय को भय कहते हैं, उग्र भय को दुःख कहते हैं - दुःख का मूल क्षोभ है। क्षोभ का मूल अशान्ति है। अशान्ति का मूल विषमता है। अतएव इस विषमता को हटाना चाहिए। इसे का नाम योग है। इस समत्व को ही भगवान् ने बुद्धियोग कहा है एवं इसी सारे कर्म्मों से श्रेष्ठ कर्म्म बताया है। गीता से पहले श्रेष्ठ कर्म्म यज्ञ ही माना जाता था– "**यज्ञोवैश्रेष्ठतमंकर्म्म**"। गीता से पहले इसी कर्म्म का शंखनाद होता था, परन्तु भगवान् कहते हैं—समत्वस्वरूप जो योग है, बुद्धियोग है, वही सारे कर्म्मों में श्रेष्ठ है। यच्चयावत् कर्म्म बन्धन में डालने वाले हैं। यदि बन्धन से मुक्त करने वाला कोई कर्म्म है तो यही बुद्धियोग है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरुकर्म्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्धयसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। (गीता २।४८)

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि, हे अर्जुन, यदि तू संसार के बन्धनों से मुक्त होना चाहता है तो योगमार्ग में स्थित हो कर आसक्ति छोड़ कर कर्म्म

करता जा । सिद्धि और असिद्धि दोनों में सम हो कर कर्म्म करता जा । इसी का नाम समत्व है । इस समत्व को ही योग कहते हैं । वास्तव में बात सच है । यदि समत्व योग का आश्रय कर लिया जाता है तो पाप-पुण्य कुछ भी असर नहीं जमा सकते हैं । बन्धन में डालने वाली विषमता है, न कि समता । दुःख विषमता से होता है, न कि समता से । इसका प्रत्यक्ष दर्शन आप साइकिल से कर सकते हैं । साइकिल सीखने के लिए पहले बैलेंस ठीक करना पड़ता है आगे के दोनों डण्डों जिन्हें कि दोनों हाथों से पकड़ा जाता है (हैण्डिल) को सीधा रखने का नाम ही बैलेंस है । जिसका बैलेंस जितना ठीक होता है, वह आँखें मींच कर उतने ही सपाटे से साइकिल दौड़ा सकता है । बस, इस बलेंस का नाम ही समत्व है । जब तक बैलेंससिद्धि नहीं होती है, तब तक गिरने का, ठोकर खाने का, मोटरगाड़ी इत्यादि वाहन से धक्का खाने का बड़ा भय रहता है, सदा चित्त पर चिन्ता सवार रहती है । परन्तु जब बैलेंस ठीक हो जाता है, तो सारी आफतें दूर हो जाती हैं । जब तक बैलेंस ठीक नहीं होता है, तब तक वह मनुष्य किसी से बात नहीं कर सकता है, इधर-उधर झाँक नहीं सकता है । यदि झाँक लेता है अथवा किसी दूसरे से बोल लेता है, तो उसी समय धड़ाम से गिर पड़ता है क्यों कि वह अभी समत्व को प्राप्त नहीं हुआ है । अभी उसका बैलेंस ठीक नहीं हुआ है । परन्तु बैलेंस ठीक हुए बाद, समत्व योग सिद्ध हुए बाद इधर-उधर देखना, हँसना, दूसरे से बातचीत करना इत्यादि कर्म्म उस पर कुछ भी असर नहीं डाल सकते । उन कर्म्मों से गति में बाधा नहीं होती । बस, यही समत्व योग का ज्वलन्त उदाहरण है । साइकिल को छोड़िए, पनघट पर चलिए । आप वहां देखेंगे कि स्त्रियां दो-दो घड़े पानी के भर कर उन्हें आसानी से अपने मस्तक पर रख लेती हैं । रख ही नहीं लेती हैं, उनको रखे हुए, आनन्द से बातचीत करती हुई मार्ग तय करती रहती हैं । परस्पर खूब हँसती हैं, बातें करती हैं, बड़े लहजे से चलती हैं । इधर-उधर के दृश्य खूब देखती रहती हैं, परन्तु क्या मजाल कि घड़े टस से मस भी हो जाएँ? हो कैसे जाएँ, जब कि उन्होंने समत्व योग सिद्ध कर लिया है । यदि आप उस घड़े को माथे पर रख कर चलेंगे और फिर इधर-उधर देखने लगेंगे, या किसी से बातचीत करने लगेंगे, तो वे कर्म्म उसी समय आपको बन्धन में डाल देंगे ।

आप उसी समय ठोकर खा कर गिर पड़ेंगे क्योंकि अभी आपने समत्व-योग का आश्रय नहीं लिया है। जिस दिन समत्व–योग का आश्रय ले लिया जायगा, उस दिन संसार का कोई भी कर्म्म आपको प्रतिष्ठा से च्युत नहीं कर सकता, बस, गीता में भगवान् ने इसी समत्वयोग का उपदेश दिया है। भगवान् कहते हैं कि यदि तुम संसार के बन्धन से रात-दिन कर्म्म करते हुए भी अलग रहना चाहते हो तो समत्वयोग का, बुद्धियोग का, आश्रय लो। बुद्धियोग का आश्रय ले कर अनवरत कर्म्म करते रहो। उसका कुछ भी प्रभाव तुम्हारे ऊपर नहीं पड़ सकता। इसीलिए श्रुति स्पष्ट शब्दों में कहती है—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः।

एवं त्वयिनान्यथेऽतोऽस्ति न कर्म्मलिप्यते नरे ॥ (ई० उ० २)

इसलिए भगवान् स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं–"**कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि न करोति न लिप्यते।**" बस, यही गीता का सार है। गीता में केवल इसी बुद्धियोग का प्रतिपादन किया गया है।

सर्वकर्म्मपरित्याग-स्वरूप ज्ञानयोग का और आसक्ति-कामनायुक्त कर्म्म योग का, जो कि गीता से पहले प्रचलित थे, भगवान् ने खण्डन किया है और ज्ञानकर्म्मोभयात्मक बुद्धियोग की, गीता द्वारा स्थापना की है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

तयोश्च—समत्वंयोग उच्यते। योगः कर्म्मसु कौशलम् इत्येतावानर्थो गीतासिद्धान्तः प्रतिपत्तव्यः।"

ज्ञान, और कर्म्म—ये अव्यय के दो भाग हैं। आनन्द-विज्ञान-मन-ज्ञान भाग है; मन-प्राण-वाक्-कर्म्म भाग है। ज्ञान ही को विद्या कहते हैं, कर्म्म ही को अविद्या कहते हैं। ज्ञान-कर्म्म कहो, विद्या-अविद्या कहो, एक ही बात है। कहना हमें यही है कि अव्ययात्मा विद्याविद्यात्मक है। इसीलिए तो—

विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्ययामृत्युंतीर्त्वाविद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ (ई० उ० ११)

इस विद्याविद्यात्मक अव्यय का स्वरूप बतलाना ही गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। यह विद्याविद्यात्मक अव्यय, बुद्धि विशेष से ही उल्वण होता है एवं बुद्धि विशेष से ही अनुल्वरण होता है। एक बुद्धि ऐसी होती है जो अव्यय के विद्याभाग को उल्वण कर देती है एवं अविद्या को अन्तर्हित कर देती है। एक बुद्धि ऐसी है जो अविद्या भाग को उल्वण कर देती है और विद्या भाग को अन्तर्हित कर देती है। बुद्धि के द्वारा ही विद्या भाग के दर्शन होते हैं, बुद्धि के द्वारा ही विद्या भाग पर्दे में छुप जाता है। हमने पूर्व के प्रकरण में कई जगह बतला दिया है कि यह महाब्रह्माण्ड स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी इन पांच मण्डलों में विभक्त है। इन पांचों की समष्टि को ही पञ्चपुण्डीर प्राजापत्य-बल कहा है। इन पांचों में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् ये सात लोक व्यवस्थित हैं। इन सातों लोकों की वस्तु हमारे में आती है। सातों की समष्टि का नाम ही शरीर है। जिसे आत्मन्वी कहते हैं, उसमें ये सातों पदार्थ रहते हैं। इसीलिए "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" यह कहा जाता है। और किसी का विवेचन न कर केवल स्वर्लोक के विषय में, अर्थात् सूर्य्य के विषय में ही हमें कुछ कहना है। सूर्य्य प्राणस्वरूप है, प्राणघन है। द्वादश प्राण-समष्टि का नाम ही सूर्य्य है। इसीलिए "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः" यह कहा जाता है।

प्राण, यत्न का नाम है, क्रिया का नाम है। प्राण–व्यापार को ही यत्न कहते हैं। यत्न ही का नाम चेष्टा है। चेष्टा का ही नाम क्रिया है। आन्तरक्रिया को क्रिया न कह कर यत्न, कृति, चेष्टा, तप इत्यादि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है एवं बहिःक्रिया को क्रिया, कर्म्म कहा जाता है। यत्ना-धिष्ठाता प्राण है, कर्म्माधिष्ठाता वाक् है। वाक् प्राण पर अवलम्बित रहती है, प्राण मन पर अवलम्बित रहता है। तीनों अविनाभूत हैं जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में बतला दिया गया है। प्रकृत में यही बतलाना है कि सूर्य्य प्राण-घन है। प्राण चेष्टास्वरूप है, क्रियास्वरूप है, अतएव प्रातिस्विक रूपेण सर्वथा जड़ है। क्रिया में चेतना रहती है। क्रिया चेतना नहीं है। क्रिया तो सर्वथा जड़ है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि यह सौर प्राण प्रातिस्विक रूपेण

सर्वथा जड़ है, अचेतन है। जिस प्रकार सूर्य्यमण्डल से ऊपर का ब्राह्मणस्पत्य सोम, स्वयम्भू की चेतना के अनुग्रह से चमकदार बन कर प्रज्ञान कहलाने लगता है, तथैव यह सौर प्राण उसी स्वयम्भू की चेतना के सम्बन्ध से विज्ञान कहलाने लगता है। चेतनानुगृहीत सौर प्राण का नाम ही विज्ञान है। जैसे चेतनानुगृहीत सोम का सम्बन्ध हमसे होता है, तथैव चेतनानुगृहीत सौर प्राण का सम्बन्ध भी हम से होता है। यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिए कि इस चिदनुगृहीत सौर प्राण में चिदनुगृहीत ब्राह्मणस्पत्य सोम अर्थात् प्रज्ञान मिल जाता है तो वह सौर प्राण अपने प्रज्ञानात्मा और विज्ञानआत्मा ये दो स्वरूप बना लेता है। कहना इससे यही है कि प्रज्ञानात्मा, विज्ञानात्मा, दोनों एक ही चेतना हैं। एक ही चेतना सोम और सौरप्राण–इन दो भागों में बंटी हुई है। चिदनुगृहीत सोम प्रज्ञान कहलाता है, चिदनुगृहीत सौर प्राण विज्ञान कहलाता है। एक ही चेतना दो स्वरूप धारण कर लेती है। दोनों अविनाभूत हैं। न बिना प्रज्ञान के, विज्ञान रह सकता है, न विज्ञान के बिना प्रज्ञान रह सकता है। अतएव **"स वा एष प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना संपरिष्वक्तः"**–यह कहा जाता है। प्रज्ञानात्मा में प्राणभाग सूर्य्य का है, प्रज्ञाभाग परमेष्ठी का है। सूर्य्य ही का दूसरा नाम इन्द्र है। यह इन्द्र प्राण ही चिदनुग्रहेण विज्ञान कहलाने लगता है। यह कभी भी प्रज्ञान से अलग नहीं होता, अतएव श्रुति में इन दोनों का अभेद बतलाया गया है। श्रुति कहती है—

सत्यं हीन्द्रः। स होवाच। मामेव विजानीहि। एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये। यन्मां विजानीयात्। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व। एकभूयं वै प्राणागच्छन्तीति। एकैकं सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञापयन्ति। प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा। या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः। तस्यैषैवदृष्टिर्यदेतद् विज्ञानम्। (कौ० ब्रा० उ० ३)

इन दोनों में इतना और समझ लेना चाहिए कि विज्ञान सूर्य्य द्वारा डायरेक्ट (परावर्तित) हो कर हमारे पास आता है। इसके आने का मार्ग है ब्रह्मरन्ध्र। जहां केशों का घेरा समाप्त होता है, उस

केशांत स्थान में एक सूराख है जिसे कि ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। इसी में होकर सुषुम्णासूत्र द्वारा यह चिदनुगृहीत सौर प्राण अर्थात् विज्ञान आया करता है। विज्ञान का अधिष्ठाता यही मस्तिष्क है। विचारने का काम मस्तिष्क से होता है क्यों कि विचारने का मसाला इसी में तो आता है। इसी मार्ग को वेद में "दृति" कहा जाता है—"**सैषादृतिर्द्वाः**" यह इसी ब्रह्मरन्ध्र के लिए कहा जाता है। सूर्य्य सुवर्ण सदृश है, अतएव उसे "**हिरण्मय**" कहा जाता है। चूंकि यही चिदनुगृहीत प्राण हमारे में आता है अतएव इस हमारे विज्ञान को हिरण्मय सूर्य्य कहा जाता है। दूसरा है प्रज्ञान। प्रज्ञान डायरेक्ट (सीधा) न आकर, पृथिवी में प्रविष्ट हो कर पार्थिव रस को ले कर आता है। चूंकि यही प्रज्ञान पार्थिव रस से, भूत से मिश्रित हो कर आता है, अतएव प्रज्ञान को भूतात्मा कहा जाता है। पृथिवी के रस का नाम है इरा। यह प्रज्ञान इरामय होता है। इरामय को ही परोक्षप्रिय देवता हिरण्मय कहते हैं। इस प्रकार, प्रज्ञान—विज्ञान दोनों ही हिरण्मय हो जाते हैं। विज्ञान वास्तव में हिरण्मय है, प्रज्ञान इरा सम्बन्धेन हिरण्मय है। अतएव श्रुति कहती है—

अथातो रेतसः सृष्टिः। प्रजापते रेतोदेवाः। देवानां रेतोवर्षम्। वर्षस्य रेत औषधयः। औषधीनाम् रेतोऽन्नम्। अन्नस्य रेतोरेतः। रेतसोरेतः प्रजाः। प्रजानां रेतो हृदयम्। हृदयस्य रेतो मनः। मनसो रेतो वाक्। वाचोरेतः कर्म्म। तदिदं कर्म्मकृतमयं पुरुषो ब्रह्मणोलोकः स इरामयो यद्धीरामयस्तस्माद्धिरण्मयः। (ऐत० आ० २, १, ३)

सम्पूर्ण प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि जिसे हम बुद्धि कहते हैं, वह यही चिदनुगृहीत सौर प्राण है, जिसे कि विज्ञान कहा जाता है। विज्ञान कहो, बुद्धि कहो, दोनों एक ही बात है। सूर्य्य ही बुद्धि का प्रदाता है। इसीलिए कहा जाता है—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

बुद्धि का प्रेरयिता, बुद्धि का अधिष्ठाता, बुद्धि का जनक, यही सूर्य्य है। यह बुद्धि आठ प्रकार की हो जाती है। एक ही बुद्धि विषय-संयोग से आठ प्रकार की हो जाती है। इन आठ बुद्धियों में से चार बुद्धियों का उस

अव्ययात्मा के साथ योग होता है, अव्यय का विद्या विभाग, चमक पड़ता है एवं अविद्या विभाग अन्तर्हित हो जाता है । दूसरी चार बुद्धियों का योग होता है तो अव्यय का अविद्या भाग उल्वण हो जाता है एवं विद्या भाग अंतर्हित हो जाता है । बुद्धि विशेष के प्रभाव से ही अव्यय में विद्या-अविद्या प्रादुर्भूत हो जाती है, एवं बुद्धि विशेष के प्रभाव से ही अन्तर्हित हो जाती है । विद्या भाग का चमकना और अविद्या का तिरोहित होना एवं अविद्या का चमकना और विद्या का तिरोहित होना इन आठ बुद्धियों पर ही निर्भर है । बस, इसी अभिप्राय से कहते हैं—

बुद्धिविशेषप्रभावादेवैते अव्यये विद्याऽविद्ये प्रादुर्भवतोवाऽन्तर्दधाते वा ।

चूं कि बुद्धियों से ही विद्या—अविद्या का भाव उल्वण—अनुल्वण होता है, अतएव विद्योदयानुकूला जो बुद्धि है वह भी विद्यानाम से ही व्यवहृत होती है । अविद्यानुकूला जो बुद्धि है वह अविद्यासाधकत्वात् अविद्यानाम से व्यवहृत होती है । विद्या को चमकाने वाली बुद्धियां विद्याबुद्धि कहलाती हैं, अविद्या को उल्वण करने वाली बुद्धि अविद्याबुद्धि कहलाती है । विद्या को उद्भट कर, अविद्या को तिरोहित करने वाली बुद्धि भी विद्या है एवं अव्यय के अविद्याभाग को उद्भट कर अव्यय के विद्याभाग को तिरोहित करने वाली बुद्धि भी अविद्या ही है ! विद्योद्भाविका बुद्धि विद्या है, अविद्योद्भाविका बुद्धि अविद्या है—

अतश्चविद्योदयानुकूला बुद्धिरपि सा विद्या । अविद्यानुकूलात्वविद्येत्याख्यायते ।

चिदनुगृहीत सौर प्राण का नाम विज्ञान है । विज्ञान ही को बुद्धि कहते हैं, यह बात हम पूर्व के प्रकरणों में बतला आए हैं । बुद्धि प्रातिस्विक रूपेण एक है और सर्वथा शुद्ध है । यह एक बुद्धि ही विषयसंसर्गेण विद्या-अविद्या दो स्वरूपों में परिणत हो जाती है । कितने ही विषय अविद्यात्मक हैं, कितने ही विद्यात्मक हैं । गायत्रीजप, स्तोत्रपाठ, गीताध्ययन इत्यादि विषयों के संसर्ग से विद्याबुद्धि का उदय होता है । अर्थात् ऐसे विषयों से जब

बुद्धि का संयोग होता है तो इससे अव्यय का विद्याभाग, ज्ञानभाग, चमक पड़ता है, अतएव इस बुद्धि को हम विद्या कहने के लिए तैयार हैं। नशाखोरी, मद्यपान, वेश्यागमन इत्यादि विषय अविद्या बुद्धि उत्पन्न करते हैं। ऐसे काम करने वालों की बुद्धि अव्यय के ज्ञान भाग को, विद्या भाग को, तिरोहित करती है, अविद्या भाग को उल्वण करती है, अतएव यह बुद्धि अविद्या बुद्धि कहलाने लगती है। विषयसंसर्ग से एक ही बुद्धि विद्या–अविद्या भेदेन दो भागों में विभक्त हो जाती है। चूं कि बुद्धि, के विद्या-अविद्या भेद के कारण, विषय हैं अतएव बुद्धि–विषयभूत जो रागद्वेषादि भाव विशेष हैं, वे ही बुद्धि शब्द से व्यवहृत होने लगते हैं। विद्याभाग को उल्वण करने से जैसे बुद्धि विद्या कहलाने लगती है एवं अविद्या को उल्वण करने से तत्साधन भूता बुद्धि भी अविद्या कहलाने लगती है, तद्वत् विद्या-अविद्या बुद्धि–साधनभूत विषय भी विद्या–अविद्या कहलाने लगते हैं। जिन विषयों से विद्याबुद्धि उत्पन्न होती है, वे विद्याविषय कहलाते हैं, एवं जिन विषयों से अविद्या बुद्धि उत्पन्न होती है, उन्हें अविद्याविषय कहा जाता है। अन्ततोगत्वा यह विद्या-अविद्योपपादक बुद्धिविषयक भाव विशेष ही बुद्धि नाम से व्यवहृत होने लगते हैं। सम्पूर्ण कथन का सारांश यही है कि बुद्धि सर्वथा शुद्ध है। विषय चूं कि दोनों प्रकार के हैं, अतः विषयसंसर्गात् बुद्धि विद्या-अविद्या भावों में परिणत हो जाती है। विषय ही विद्या-बुद्धि, अविद्या-बुद्धि के उत्पादक हैं, अतएव बुद्धि में आये हुए वे विषय ही बुद्धि नाम से व्यवहृत होने लगते हैं जैसे कि विद्या-अविद्याव्ययसाधनभूत बुद्धि, विद्या-अविद्या कहलाने लगती है—

विषयविशेषमाहात्म्यात्तु साबुद्धिरव्ययविद्योदयाय प्रकल्पते इत्यतो बुद्धिविषयभूता भावविशेषाएवैते बुद्धिशब्दा गीयन्ते।

अच्छे विषयों के संसर्ग से बुद्धि भी शुद्ध रहती है। अच्छी बुद्धि से आत्मा के विद्याभाग की, ज्ञानभाग की, वृद्धि होती है एवं बुरी बुद्धि से अज्ञान-भाग की वृद्धि होती है। इसके मूल कारण बुद्धि में आए हुए विषय ही हैं अतएव उन विषयों को ही हम बुद्धि कहेंगे। विषय चूंकि अविद्या-विद्या-भेदेन दो प्रकार के हैं अतएव बुद्धियां भी विद्या-अविद्या-भेदेन दो ही प्रकार की होती

हैं। बुद्धियां आठ बतलाई गई हैं। इनमें से धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य—ये चार बुद्धियां विद्यास्वरूप हैं। चारों बुद्धियां विद्याबुद्धियां कहलाती हैं। धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य—इन चारों से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि, विद्याभाग को उल्वण करती है। चारों ही विषय विद्याभाग को उल्वण करते हैं एवं अविद्या को अन्तर्हित करते हैं। इन चारों की अपेक्षा से वह एक बुद्धि चार बुद्धियां कहलाने लगती हैं। वास्तव में धर्म्म, ज्ञान, ऐश्वर्यादि विषय हैं, बुद्धि के नाम नहीं हैं, विषय के नाम हैं। परन्तु बुद्धि इन चारों से युक्त होकर तन्मय बन जाती है अतएव बुद्धिगत इन चार विषयों को ही बुद्धि कहने लगते हैं। इस प्रकार एक ही विद्याबुद्धि इन चार विषयों के कारण धर्म्मबुद्धि, ज्ञानबुद्धि, वैराग्यबुद्धि, ऐश्वर्यबुद्धि–इन चार भावों में परिणत हो जाती है। चारों से ही अव्ययात्मा का विद्याभाग चमकता है, अतएव चार ही विद्याबुद्धि कहलाती हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

तथा च द्विविधास्ता बुद्धयोभवन्ति विद्याश्चाविद्याश्च। धर्म्मोज्ञानम् वैराग्यमैश्वर्यम् इति च तस्रो विद्याबुद्धिरूपम्। विद्याव्ययोदयाधायकत्वात्।

विद्या-बुद्धि के बिलकुल विरुद्ध विषयसंसर्गेणैव चार अविद्याबुद्धियां उत्पन्न होती हैं। उनके नाम हैं—अधर्म्म, अज्ञान, आसक्ति, अस्मिता। अधर्म्म से, अज्ञान से, रागद्वेषस्वरूप आसक्ति से एवं अस्मिता से जब उस बुद्धि का सम्बन्ध होता है तो वह अविद्याबुद्धि कहलाने लगती है। इन चारों से सम्बन्ध होने पर वह बुद्धि अव्यय के ज्ञान भाग को मैला कर डालती है, अव्यय के विद्या भाग को अन्तर्हित कर अविद्या को उद्भट कर डालती है, अतएव इसको अविद्याबुद्धि कहते हैं। विषय-संसर्ग से बुद्धि अविद्यात्मक बनती है। विषय अधर्म–अज्ञानादिभेदेन चार प्रकार के हैं अतएव विद्याबुद्धिवत्, अविद्याबुद्धि भी चार ही प्रकार की हो जाती है—

तत् प्रतिद्वन्द्वितयाचतस्रोऽन्याबुद्धयस्त्वविद्यारूपम्-विद्याव्ययमलीकरण-हेतुत्वात्

धर्म्म किसे कहते हैं, अधर्म्म किसे कहते हैं, ज्ञान किसे कहते हैं, अज्ञान किसे कहते हैं ? इस प्रकार धर्म्माधर्म्मज्ञानाज्ञानादि बुद्धियों का स्वरूप बतला दिया जाता है—

इन आठ में से प्रातिस्विक रूप से ध्रियमाण जो सत्त्वगुण है, उसी का नाम धर्म्म है। संसार के जितने भी पदार्थ हैं, वे बल ही बल हैं। रस और बल, दो ही तो वस्तु हैं। हम आँख से जिसे देखते हैं, वह बल है, और बलाधार रस है। घड़ा है, कपड़ा है, सूर्य्य है इसमें जो "है" है, वह तो रस भाग है एवं घड़ा बल भाग है। रस अमृत-स्वरूप है, बल मृत्यु-स्वरूप है; रस निष्क्रिय है; बल सक्रिय है। क्रिया ही का नाम बल है, ऐसी क्रिया-समष्टि का नाम ही गुण है एवं गुण-समष्टि का नाम ही द्रव्य है। अतएव "**गुणकूटो-द्रव्यम्**" कहा जाता है। द्रव्य, कर्म्म-समष्टि का, अर्थात् क्रिया-समष्टि का नाम है। हम जिसे पदार्थ कहते हैं, वह क्रिया की समष्टि मात्र है। अनन्त वृक्षों की समष्टि जैसे "**वन**" कहलाने लगती है; अनन्त मनुष्यों की समष्टि जैसे "**सेना**" कहलाने लगती है; अनन्त घरों की समष्टि जैसे "**ग्राम**" कहलाने लगती है; अनन्तानन्त जल–परमाणुओं की समष्टि जैसे "**सरोवर**" कहलाने लगती है। वन, सेना, ग्राम, सरोवर जैसे वृक्ष, मनुष्य, घर, जल–परमाणुराशि से इत्तर पदार्थ नहीं हैं, तथैव अनन्त बल-समष्टि का नाम ही पदार्थ है। बल से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं हैं। सारे वृक्षों को काट दीजिए वन अपने आप नष्ट हो जाएगा। सारे मनुष्यों को मार दीजिए, सेना का कहीं पता भी न लगेगा। सारे घरों को नष्ट कर दीजिए, ग्राम का नाम नेस्तनाबूद हो जाएगा। उसी प्रकार एक-एक कर सारे बल निकाल दीजिए, पदार्थ का कहीं पता भी न रहेगा। अतएव हम पदार्थों को बल–समष्टि कहने के लिए तैयार हैं। ये बल संसार में कुल तीन ही प्रकार के होते हैं–एक बल का नाम है "**आगन्तुक**" एक का नाम है "**आत्मीय**" एक का नाम है "**विरोधी**"।

"**आगन्तुक बल**" वे हैं, जिनसे न किसी वस्तु का कोई फायदा होता है और न नुकसान होता है। परन्तु वे बल आ अवश्य जाते हैं। दिग्–देश–काल–संख्या–परिणाम-पृथक्त्व–अपरत्व इत्यादि बल सर्वथा आगन्तुक हैं। इनसे उन पदार्थों का न कुछ बिगड़ता, न सुधरता है; परन्तु ये बल उसमें आ कूदते हैं। दूसरा बल है आत्मीय। "**आत्मीयबल**" वह कहलाता है, जिससे वस्तु की रक्षा हो। जिसके निकल जाने से वस्तु–स्वरूप ही नष्ट हो जाए, वही आत्मीय बल कहलाता है। बल ही को क्रिया कहते हैं। सारे पदार्थ ही

क्रियामय हैं, यह बात हम अभी बतला आये हैं। यह क्रिया दो प्रकार की होती है. दो प्रकार की क्यों, तीन प्रकार की होती है। इस क्रिया के तीन ही परिणाम होते हैं। एक क्रिया तो ऐसी होती है जो स्वाश्रयभूत पदार्थ को स्थिर रखती है, उसकी रक्षा करती है। यदि वह क्रिया निकल जाय तो तदाश्रयभूत वस्तु ही नष्ट हो जाए। उदाहरणार्थ, शरीर पर दृष्टि डालिए। हमारे शरीर में अनवरत एक क्रिया ऐसी हुआ करती है, जिससे हमारे शरीर की स्थिति बनी रहती है। बाहर से अन्न ला-ला कर यह क्रिया प्रतिक्षण शरीर–पुष्टिकरती हुई रात–दिन अपना कार्य करती रहती है। यदि यह क्रिया बन्द हो जाये, तो शरीर शिथिल हो जाता है। इतना ही नहीं, यदि अधिक देर तक बन्द रह जाये तो प्राणोत्क्रान्ति हो जाती है। बस, ऐसी क्रिया को, ऐसे बल को ही, हम आत्मीय बल कहेंगे।

परन्तु इस क्रिया के ठीक विरुद्ध एक ऐसी क्रिया होती है जो प्रतिक्षण भुक्तान्न निर्मित रस को बाहर निकाला करती है। यदि वह क्रिया रस को बाहर न निकाले तो हमें भूख ही न लगे। वह क्रिया शरीर को प्रतिष्ठा से च्युत करने की कोशिश किया करती है। अतएव हम इसे विरोधी बल कहने के लिए तैयार हैं। हमें धर्म्म का लक्षण करना है। पूर्वोक्त क्रियाएं धर्मी द्वारा ही, अर्थात् शरीर द्वारा ही धृत रहती हैं। जैसे प्रतिष्ठा-स्वरूप क्रिया का आश्रय शरीर है, तथैव प्रतिष्ठा को नष्ट करने वाली क्रिया का भी आश्रय शरीर ही है। अतएव "ध्रियते इति धर्म्मः" 'धरतीति वा धर्म्मः"—इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न धर्म्म शब्द के पेट में यद्यपि शरीर विनाशभूता क्रिया का भी समावेश हो जाता है, परन्तु पूर्व क्रिया आश्रय स्वरूप की रक्षा करती है एवं दूसरी क्रिया, स्वरूप को ही उच्छिन्न करती है, अतएव "धरतीति धर्म्मः"–इस प्रकार कर्तृ प्रत्यय का आश्रय लेना ही उचित है। पहली क्रिया ही धर्म्म है क्योंकि स्थिति उसी से होती है। दूसरी सर्वथा अधर्म्मरूपा है, क्योंकि उससे बजाय रक्षा के, विनाश होता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि ध्रियमाण हो कर जो शरीर की सत्ता रखता है, स्वयं धर्म्मी से धृत रहता है एवं धर्म्मी को स्व-स्वरूप में स्थिर रखता है, वही धर्म्म है। धर्म्म का असली लक्षण यही है—

ध्रियमाणः सन्धरतिः स्वयं च धर्मिणा ध्रियते धर्मिणं च स्व-स्वरूपेऽवस्थापयति स धर्मः ।

संसार के यच्चयावत् जड़चेतन पदार्थों में, प्रत्येक में भिन्न-भिन्न धर्म्म होते हैं । अर्थात् प्रत्येक की क्रिया भिन्न-भिन्न है । जिस धर्म्म का हमने स्वरूप बतलाया है वह स्वाभाविक और आगन्तुक भेदेन दो प्रकार का होता है । इनमें से जो स्वाभाविक धर्म्म हैं वे ही वस्तु के स्वरूप कहलाते हैं । वस्तु का स्वरूप, वस्तु का स्वाभाविक धर्म्म ही है । यदि वह स्वाभाविक धर्म्म उस वस्तु से निकाल दिया जाये, तो उस वस्तु का नाश ही हो जाता है । उदाहरणार्थ अग्नि, पानी को लीजिए । अग्नि का स्वाभाविक धर्म्म है–औष्ण्य और प्रकाश । ताप और प्रकाश अग्नि के स्वाभाविक धर्म्म हैं । जिस क्षण अग्नि में से गरमाई और प्रकाश निकल जायगा, उस क्षण अग्नि, अग्नि ही न रहेगा । एवमेव जल का स्वाभाविक धर्म्म है, ठंडापन और प्यास बुझाना, ताप-शांति करना । जिस क्षण जल से ये सारे धर्म्म निकल जाएंगे उस क्षण जल, जल ही न रहेगा परन्तु जो आगन्तुक धर्म्म हैं वे वस्तुओं में वस्त्वन्तर के सम्बन्ध से आ गिरते हैं । अतएव इन धर्म्मों को हम व्यभिचारी धर्म्म कहते हैं । पानी में गरमाई नहीं है । चूल्हे पर चढ़ाने से इसमें गरमाई आ जाती है । यह गरमाई आगन्तुक है । इससे पानी का कुछ बिगड़ता नहीं । अतएव हम इसे आगन्तुक धर्म्म कहने के लिए तैयार हैं । परन्तु ध्यान रहे, बाज मौकों पर ये आगन्तुक धर्म्म ही विनाशक बन जाते हैं । यदि अग्नि का सम्बन्ध पानी से अतिमात्रा में किया जायगा तो सारा पानी भाप बन कर उड़ जाएगा । ऐसे आगन्तुक धर्म्मों को हम सर्वथा अधर्म्म ही कहेंगे । परन्तु जो आगन्तुक धर्म्म, स्वरूप का विनाश नहीं करते हैं, उन्हें हम यथाकथञ्चित् धर्म्म-कोटि में ले सकते हैं । परन्तु इतना अवश्य है कि उभयविध धर्म्म, इस धर्म्मी से ही ध्रियमाण हैं तथापि स्वभावभूत जो धर्म्म हैं वे मुख्य धर्म्म हैं और आगन्तुक धर्म्म गौण धर्म्म हैं । आगन्तुक धर्म्म स्वभाव-धर्म्म के अनुकूल होते हैं, तभी वे धर्म्म कहला सकते हैं । यदि ये स्वभाव-धर्म्म के अनुकूल नहीं होते, तो ये ही आगन्तुक धर्म्म, अधर्म्म बन जाते हैं । सारांश इससे यह निकलता है कि स्वभावभूत धर्म्मानुकूल जो क्रिया है, वह धर्म्म है एवं स्वभावधर्म्म–प्रतिकूला क्रिया सर्वथा

अधर्म्म है। बस, धर्म्म का यह व्यापक लक्षण समझना चाहिए। पदार्थ-धर्म्म में जैसे धर्म्माधर्म्म की पूर्वोक्त व्यवस्था है, तथैव ब्राह्मणधर्म्म, मनुष्यधर्म्म, वैश्यधर्म्म, राजधर्म्म इत्यादि धर्म्मों में भी यही व्यवस्था समझनी चाहिए। मनुष्यों में जो मनुष्यत्व कहलाता है, वह मनुष्यत्व जिन उपायों से, जिन द्रव्यों से सुरक्षित रहता है वे ही उपाय और द्रव्य मनुष्य के धर्म्म हैं। मनुष्यत्व की रक्षा जिनसे होती है, वे ही मनुष्य के धर्म्म हैं; एवं जिन द्रव्यों से जिन कामों से मनुष्यत्व का विनाश होता है, मनुष्य का पतन होता है, वे कार्य्य सर्वथा अधर्म्म हैं। इसी प्रकार सभ्यताभिमानी जो मनुष्य हैं, उनकी सभ्यता जिस प्रकार सुरक्षित रहती है, जिस क्रिया से, जिस उपाय से सुरक्षित रहती है, वह उपाय, वह क्रिया ही उन सभ्यों का धर्म्म है, विपरीता क्रिया सर्वथा अधर्म्म है। इसी प्रकार, यही व्यवस्था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्ण धर्म्मों में भी समझनी चाहिए। जिन क्रियाओं से तत्तदभिमत स्वरूप-रक्षा होती है, वे ही धर्म्म हैं, अन्य सारी क्रियाएँ अधर्म्म हैं। जिनसे स्वरूप-सत्ता रहती है वे ही धर्म्म हैं। ब्राह्मण की स्वरूपसत्ता रहती है वेदादि पठनपाठन से, यज्ञादि कर्म्म करने से, उपदेश द्वारा समाज के अध्यात्म-दोष निवारण से। यदि ब्राह्मण इन कर्म्मों को, इन स्वाभाविक धर्म्मों को, छोड़ देता है तो वह अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है। एवमेव, क्षत्रिय यदि रक्षा-धर्म्म को छोड़ देता है तो अपने स्वरूप से सर्वथा नष्ट हो जाता है। एवमेव वैश्य यदि व्यापारादि स्व-स्वरूप पालन धर्म्मों का परित्याग कर देता है, तो वैश्य नहीं रहता है, अपने धर्म्म को छोड़ने वाला उभयथा पतित हो जाता है। एवमेव शूद्र यदि सेवाधर्म्म से विमुख हो जाता है तो वह अपने स्वरूप का सत्यानाश करता है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं—

सहजं कर्म्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (भ०गी० १८।४८)

इसलिए कल्पसूत्रकार शूद्र के लिए विद्याध्ययन यज्ञाद्यनुष्ठान न करने की सख्त हिदायत करते हैं। अर्जुन दयाधर्म्म को अंगीकार करना चाहता था। उसका अभिप्राय बहुत ही उन्नत था। यह सब कुछ था, परन्तु था क्षत्रिय धर्म्म के विरुद्धः। अतएव भगवान् उसकी मोहनिद्रा को तोड़ते हुए कहते हैं —

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्म्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

(भ० गी० २।३३)

जिससे स्व-स्वरूप की स्थिति रहती है, वही स्वधर्म्म है अतएव भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ॥
यत्स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म्म इति निश्चयः ॥

स्वधर्म्म को छोड़ना अपना सत्यानाश करना है, अतएव भगवान् जोरदार शब्दों में स्वधर्म्म-पालन की आज्ञा देते हुए कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः ॥

(भ० गी० ३।३५)

सारे प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि प्रातिस्विकरूपेण ध्रियमाण जो सत्त्वगुण है, उसी का नाम धर्म्म है। हमने बतलाया है कि स्वाभाविक, आगन्तुक एवं विरोधी–इस प्रकार क्रिया अर्थात् बल तीन प्रकार के होते हैं। बल ही का नाम क्रिया है एवं क्रिया-समष्टि का नाम ही गुण है। चूं कि क्रिया अर्थात् बल आगन्तुक, आत्मीय और विरोधी भेदेन तीन ही प्रकार का है, अतः हम कह सकते हैं कि संसार में गुण भी तीन ही प्रकार के हैं। जो आत्मीय गुण है, उसे सत्त्वगुण कहा जाता है। आगन्तुक गुण को अर्थात् बल को रजोगुण कहा जाता है एवं विरोधी बल को तमोगुण कहा जाता है। बस, सत्त्व, रज, तम के अलावा संसार में चौथा गुण है ही नहीं। इन तीनों में जो सत्त्वगुण है, उसे ही हम धर्म्म कहते हैं। धर्म्म का स्वरूप बतलाते समय हमने कहा था कि जिनसे स्वरूप-रक्षा होती है, वे बल ही, वे गुण ही, धर्म्म कहलाते हैं। स्वरूप-रक्षा होती है प्रातिस्विक बल से, स्वाभाविक गुण से, एवं स्वाभाविक गुण को कहते हैं, सत्त्व। अतएव प्रातिस्विक रूपेण ध्रियमाण सत्त्वगुण को हम धर्म्म कहने के लिए तैयार हैं। सत् कहते हैं वस्तु को, उसका जो भाव है, उसे सत्त्व कहते हैं। उस भाव से ही उस सत् वस्तु की स्थिति रहती है, अत-

एव "धृतः सन् धारयते" के अनुसार उस प्रातिस्विक सत्त्व को हम धर्म्म कहने के लिए तैयार हैं। घट सत् है। घटत्व सत्त्व है। जिससे वस्तु की स्थिति होती है, उसी का नाम सत्त्व है। घट की सत्ता घटत्व से है, पट की सत्ता पटत्व से है, मनुष्य की सत्ता मनुष्यत्व से है, ब्राह्मण की सत्ता ब्राह्मणत्व से है। जिस दिन मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व, पटत्व, घटत्व निकल जाएगा, उस दिन इनका सर्वथा विनाश हो जाएगा। परन्तु जो तमोगुण है, वह सर्वथा अधर्म्म है। विरोधी बल को ही तमोगुण कहते हैं। विरोधी बल से आत्मा का, वस्तु-सत्ता का विनाश हो जाता है। इसी को कहते हैं तमोगुण। अतएव इस तमोगुण को हम अधर्म्म कहने के लिए तैयार हैं। एवं तीसरा बल है आगन्तुक जिससे न हानि होती है, न फायदा होता है, वही आगन्तुक बल कहलाता है। इसी का नाम रजोगुण है। बस, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के अलावा और है ही क्या? सत्त्वगुण का नाम धर्म्म है, परन्तु प्रातिस्विक सत्त्वगुण का नाम धर्म्म है। अन्य का सत्त्वगुण इसका धर्म्म नहीं है। जल का जो प्रातिस्विक सत्त्वगुण है, वही उसका धर्म्म है। अग्नि का प्रातिस्विक सत्त्वगुण है जला डालना। यदि इसका जल में समावेश हो जाएगा तो जल की सत्ता की बात तो दूर रही कहीं जल का पता भी न लगेगा। एक का सत्त्वगुण दूसरे के लिए तमोगुण हो जाता है। विष का सत्त्वगुण विष के लिए धर्म्म है परन्तु वही सत्त्वगुण मनुष्य के लिए अधर्म्म है। बस, इसीलिए प्रातिस्विक विशेषण दिया गया है। धर्म्म से आत्म-सत्ता रहती है। आत्मा का विद्या भाग उल्वण होता है। आत्मा प्रफुल्लित रहता है, अतएव इसे हम "विद्याबुद्धि" कहने के लिए तैयार हैं एवं अधर्म्म से आत्मनाश होता है, तमोगुण आत्मा का विरोधी है, अतएव उसे हम अविद्या बुद्धि कहने के लिए तैयार हैं। भगवान् ने गीता में इन्हीं विद्या–अविद्या बुद्धियों का स्वरूप बतलाया है। चूं कि विद्या-बुद्धि चार हैं, इस लिए गीता में कुल चार ही विद्या हैं—राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या। सबसे अन्त में आर्षविद्या है। इसे भगवान् ने धर्म्म का ही स्वरूप बतलाया है। धर्म्म का स्वरूप सत्त्व, रज, तमोगुण को समझे बिना समझ में आ नहीं सकता है, अतएव भगवान् ने आर्षविद्या में इन तीनों गुणों का स्वरूप बतला कर, धर्म्मबुद्धि का स्वरूप समझाया है एवं साथ ही अधर्म्म का

स्वरूप भी स्पष्ट किया है। चारों विद्याबुद्धियों में से आर्षविद्या में धर्म्म-विद्या-बुद्धि का और अधर्म्म अविद्या-बुद्धि का स्वरूप बतलाया है। हमें प्रकृत में केवल इतना ही कहना है कि चार बुद्धियों में से प्रातिस्विकरूपेण ध्रियमान जो सत्त्व गुण है, वह धर्म्म है और जो तमोगुण है वह अधर्म्म है। बस, इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रख कर भाष्यकार कहते हैं—**"तत्र प्रातिस्विकरूपेण ध्रियमाणः सत्त्वगुणो धर्म्मः। तमोगुणस्त्वधर्म्मः।"**

धर्म्म के अनन्तर है ज्ञान। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, विषयावच्छिन्न चैतन्य एवं अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य-तीनों चैतन्यों का जो एकत्र समावेश है, उसी का नाम ज्ञान है। इसी को प्रत्यय कहते हैं "अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यम्, अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्नं चैतन्यम्, विषयावच्छिन्नं चैतन्यमेतेषां यत् समन्वयस्तद् ज्ञानं स प्रत्ययः" –यही ज्ञान का लक्षण है। हमारा ज्ञान, जिसे कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य कहेंगे, विषय-चैतन्य से जाकर मिलता है।

सामने घड़ा रक्खा हुआ है। हमारा अंतःकरण-चैतन्य उस घट-चैतन्य के साथ जब युक्त होता है तो उस सम्बन्ध से 'घटमहंजानामि' यह प्रत्यय हो जाता है। हमारा अंतःकरणस्थ ज्ञान बाहर नहीं निकलता। यदि ज्ञान शरीर से बाहर निकल कर घट से युक्त हो जाए तो ज्ञानस्वरूप आत्मा का उसी समय मरण हो जाए। अतएव मानना पड़ता है कि ज्ञान नहीं जाता, अपितु ज्ञान-रश्मियां जाती हैं। अन्तःकरणावच्छिन्न ज्ञान को विषयावच्छिन्न चैतन्य से मिलाने वाली अन्तःकरण की वृत्ति ही, ज्ञानरश्मि है। दीपक की लौ विषय को प्रकाशित नहीं करती अपितु लौ में से निकलने वाली रश्मियाँ, जिन्हें कि वृत्ति कहेंगे, उनका घट-पटादि से सम्बन्ध होता है। यह वृत्ति उधर घट से बद्ध रहती है, इधर ज्ञान-कंदल से बद्ध रहती है। बस, इस मध्यस्थ ज्ञान-सूत्र का नाम ही अन्तःकरण-वृत्यवच्छिन्न चैतन्य है। इस प्रकार तीनों चैतन्यों का जब मेल होता है तब "मैं घड़े को जानता हूं"—यह ज्ञान होता है। परन्तु अन्तः करण चैतन्य का सत्तासामानाधिकरण्येन विषयावगाहन होता है, तभी ज्ञान वास्तविक ज्ञान कहलाता है। घट–पट–मठ–सूर्य–चन्द्रादि जो पदार्थ हैं, विषय हैं, वे सत्ता-

त्मक हैं। इस सत्तासामानाधिकरण्येन विषय के साथ अंतःकरण का जो सम्बन्ध है, उसी का नाम ज्ञान है। यदि सत्तावैयधिकरण्येन अन्तःकरण विषय पर दौड़ता है तो वह ज्ञान, ज्ञान नहीं कहलाता अपितु अज्ञान किंवा मिथ्या ज्ञान कहलाता है। जिसकी सत्ता हो, उसी के साथ यदि अन्तःकरण का सम्बन्ध होता है तो तज्जन्य जो ज्ञान है, उसी को हम ज्ञान कहेंगे। जिसकी सत्ता है, उसी का यदि ज्ञान है, तो वह ज्ञान है। यदि सत्ता अन्य की है और अन्तःकरण का सम्बन्ध अन्य के साथ है तो वह ज्ञान नहीं, अज्ञान है। सामने घड़ा रक्खा है। यदि हमारा अन्तःकरण घट सत्ता को ही लेकर घट विषय से मिलता है, तो उसे हम ज्ञान कहेंगे। यदि सत्ता तो है घट की, परन्तु अन्तःकरण का सम्बन्ध हो रहा है पट से, तो उस ज्ञान को अज्ञान कहेंगे। इसी को भ्रान्ति कहते हैं। रज्जु की ही सत्ता है, यदि उसी का ज्ञान है, तो ज्ञान है और रज्जु की सत्ता है और ज्ञान है अन्तःकरण स्थित सर्प का, तो वह ज्ञान नहीं, अज्ञान है। इस अज्ञान में आत्म-ख्याति ही कारण है। आत्मा में घट, पट, रज्जु, सर्प पहले से बैठे हुए हैं, अतएव रज्जु पर जब दृष्टि जाती है तो आत्मस्थित सर्प उस रज्जु से परिवेष्टित हो जाता है। यही भ्रान्ति का कारण है। खेत को कुत्ते एवं और-और जंगली जानवर नष्ट किया करते हैं। उन्हें क्षेत्रस्वामी लगुड-प्रहार से ताड़ देता है। बस, उसी समय, उन जानवरों के अन्तःकरणों में क्षेत्रस्वामी का फोटू खिच जाता है। क्षेत्रस्वामी एक हांडी (मटकी) को एक वृक्ष पर लगा कर उस पर कपड़ा लाद कर मनुष्याकृति जैसा बना देता है। जानवर उसे देखते ही भाग जाते हैं। इसका कारण यही है कि अन्तःकरण में खिचा हुआ क्षेत्रस्वामी का फोटू उस स्थूल पर जा कर चिपक जाता है, अतएव वे उसे मनुष्य ही समझने लग जाते हैं। आत्मस्थित मनुष्य ने उन्हें डरने को बाध्य किया है, अतएव हम इस भ्रान्ति को आत्मख्यातिमूला कहेंगे। अस्तु, कहने का तात्पर्य यही है कि जिसकी सत्ता है, उसी के साथ यदि अन्तःकरण का सम्बन्ध होता है, तो वह ज्ञान, ज्ञान कहलाता है। यदि सत्ता दूसरे की है, अन्तःकरणावगाहन अन्य विषय पर है, तो वह अज्ञान कहलाता है। सत्तावैयधिकरण्येन अन्तःकरण का विषय के साथ सम्बन्ध होना अज्ञान है। सत्ता सामानाधिकरण्येन अन्तः करण का विषयावगाहन होना ज्ञान है। विरुद्ध ज्ञान का नाम ही अज्ञान है। ज्ञानाभाव का

नाम अज्ञान नहीं समझ लेना चाहिए। ज्ञान सत्य है, अज्ञान मिथ्या है। सत्य ही आत्मा का स्वरूप है। मिथ्या ज्ञान आत्मा का विरोधी है। ज्ञान से आत्मा का विद्या-भाग उल्वण होता है, अतएव ज्ञान को हम विद्या-बुद्धि कहने के लिए तैयार हैं। अज्ञान से अव्ययात्मा का अविद्या-भाग उल्वण होता है, अतएव अज्ञान को अविद्या-बुद्धि कहने के लिए तैयार हैं। इन दोनों का विवेचन सिद्धविद्या में किया गया है। सिद्धविद्या में इस ज्ञान-स्वरूपिणी विद्या-बुद्धि का ही स्वरूप बतलाया है—

अन्तःकरणस्य सत्तासामानाधिकरण्येन विषयावगाहो ज्ञानम्। सत्तावैय्यधिकरण्येन विषयावगाहस्त्वज्ञानम्।

ज्ञान के अनन्तर उसी का नाम है वैराग्य। अनासक्ति को ही वैराग्य कहते हैं। विषयों के साथ आत्मा का जो चिपक जाना है, उसी का नाम आसक्ति है। एवं विषयों के साथ न चिपकना ही अनासक्ति है। इसी का नाम वैराग्य है। विषयों के साथ आत्मा की आसक्ति राग, द्वेष, मोह, भेदेन तीन ही प्रकार से होती है। राग, द्वेष, मोह, ये तीन ही आसक्ति के मूल हैं। यदि आसक्ति होती है तो इन्हीं तीन से होती है, जैसे सत्त्व, रज, तम के अलावा कोई चौथा गुण नहीं है, तथैव राग-द्वेष-मोह इन तीनों के अलावा कोई चौथा आसक्ति का प्रवर्त्तक नहीं है। विषयों के साथ आत्मा इन तीन ही कारणों से बँधता है। हमारी बुद्धि विषयों के साथ यदि चिपकती है तो तीन ही तरह से चिपकती है—प्रेम से, द्वेष से या मोह से। बुद्धि का एक मुख समझ लीजिए। कल्पना कर लीजिए, यह तो बुद्धि का मुख है और यह पृष्ठ भाग है। बस, इन दोनों में से विषय के साथ यदि बुद्धि के मुख भाग का सम्बन्ध होता है तो यह राग-सम्बन्ध कहलाता है। विषय के साथ रञ्जित हो जाना ही राग कहलाता है। स्त्री का प्यार, बच्चे का प्यार, धन का प्यार, घर का प्यार, ये सब रागमूलक हैं। राग में आत्मा विषय से ऐसा चिपक जाता है, ऐसा चिपक जाता है, कि यदि उसे जरा भी वहां से हटाया जाता है तो उसे दुःख होने लगता है। जिसका आत्मा बच्चे से बँध जाता है, वह बच्चे के जरा आंखों से ओझल होते ही, अरे मेरा बच्चा किधर गया ? इस प्रकार तड़फड़ाने

लगता है। कारण उस का यही राग है। राग में बुद्धि तन्मय हो जाती है। रात-दिन सोते-जागते, उठते-बैठते वही बुद्धि में चढ़ा रहता है। यह बन्धन यहां तक दृढ़ हो जाता है कि यदि उसको विषय से अलग किया जाता है, तो वह मनुष्य बाज मौकों पर अपने प्राण तक दे देता है। प्रेम भाव से बुद्धि के मुख भाग की विषय के साथ जो तन्मयता है, उसी का नाम राग है, एवं द्वेष इसके ठीक विपरीत है। बुद्धि के पृष्ठ भाग का विषय के साथ जो लगाव है, उसी का नाम द्वेष है। जैसे राग से विषय में आसक्ति होती है, तथैव द्वेष से भी विषय में आसक्ति होती है। रागासक्ति प्रेममूला है, द्वेषासक्ति द्वेषमूला है। जिस प्रकार राग से विषय सदा आंखों पर चढ़ा रहता है, तथैव द्वेष से भी विषय सदा आंखों पर चढ़ा रहता है। जिसके साथ द्वेष रहता है वह मनुष्य सोते-उठते, खाते-पीते, चलते-फिरते सदा ज्ञान में चढ़ा रहता है। राग से विषयों के साथ आत्मा जितना बद्ध रहता है, उतना ही द्वेष में भी बद्ध रहता है। राग में भी पकड़ है, द्वेष में भी पकड़ है। रागबुद्धि जैसे विषय से चिपक जाती है वैसे ही द्वेषबुद्धि भी विषय से चिपक जाती है। रावण की भगवान् रामचन्द्र के साथ शत्रुता थी, अतएव रावण के खयाल में सदा रामचन्द्र और रामचन्द्र की वानर सेना चढ़ी रहती थी। उधर रामचन्द्र के खयाल में सेना सहित रावण चढ़ा रहता था। कहने का तात्पर्य यही है कि जैसे प्रेम से आसक्ति होती है, तथैव द्वेष से भी आसक्ति होती है।

तीसरा है मोह। यदि प्रेम पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तो वह मोह कहलाने लगता है। मुझे यह बच्चा प्यारा लगता है। मैं स्त्री से अत्यन्त प्यार करता हूं। जब तक यह द्वैतभाव रहता है तब तक तो राग कहलाता है। जब द्वैतभाव हट जाता है, विषयात्मा का एकीभाव हो जाता है, 'अहमेव स्त्री, अहमेव पुत्रः' जब यह भाव हो जाता है, तो इसे मोह कहने लगते हैं। प्रेमाधिक्य का नाम ही मोह है। उसी प्रकार द्वेष में भी समझना चाहिए। यदि द्वेष सीमा से बाहर निकल कर अतिमात्रा तक पहुंच जाता है तो उसे भी मोह कहने लगते हैं। जब तक द्वैत रहता है तब तक चित्त अपने वश में रहता है, सदसद् अपने-पराए का खयाल रहता है, परन्तु जब प्रेम और द्वेष पराकाष्ठा पर पहुंच जाते हैं तो चित्त अपने वश से उतर जाता है। ऐसे समय में मनुष्य विचित्र

हो जाता है। ऐसे समय में उसे अपने-पराए का कुछ भी खयाल नहीं रहता। इस वैचित्य को ही मोह कहते हैं। बस, संसार के यच्चयावत् विषयों के साथ बुद्धि का सम्बन्ध राग, द्वेष, मोह–तीन ही प्रकार से होता है। तीन ही आसक्ति के कारण हैं। तीनों ही आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं। इन तीनों को ही आसक्ति कहते हैं। आसक्ति से आत्मा का अविद्या भाग उल्वण होता है। अतएव आसक्ति को हम अविद्याबुद्धि कहने के लिए तैयार हैं। अनासक्ति से आत्मा का विद्याभाग उल्वण होता है, अतएव इस अनासक्ति को, वैराग्य को, हम विद्याबुद्धि कहने के लिए तैयार हैं। गीता की पहली राजर्षिविद्या में इस वैराग्यबुद्धि का ही विवेचन किया गया है। यह मत भगवान् का अपना मत है। आसक्ति न रखकर अनवरत कर्म्म करते जाना ही भगवान् का प्रातिस्विक मत है–"**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**" से भगवान् राजर्षिविद्या को ही अपना मत प्रतिपादित करते हैं, जो आसक्ति छोड़ कर कर्म्म करता है, वैराग्यबुद्धियोग का आश्रय लेता है, उसके लिए भगवान् कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्म्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ (गीता २।४८)
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म्म समाचर।
असक्तोह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पूरुषः॥ (गीता ३।१६)

सम्पूर्ण प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि अनासक्ति का नाम ही वैराग्य है। राग-द्वेष-मोह–इन तीनों का आसक्तिपूर्वक जो विषय-सम्बन्ध है वह विपर्य्ययवद् अर्थात् आसक्ति सम्बन्ध समझना चाहिए। राग-द्वेष-मोह रहित विषय-सम्बन्ध का नाम अनासक्ति है। इसी का नाम वैराग्य है—"**अनासक्तिर्वैराग्यम्। रागद्वेषमोहानामासक्त्या अर्थपरिग्रहस्तद् विपर्य्ययः।**"

वैराग्य के अनन्तर है ऐश्वर्य। अन्तःकरणानुकूल विषय का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध है उसी का नाम ऐश्वर्य है। विषयों में आत्मा का याथाकाम्येन जो योग है, उसी का नाम ऐश्वर्य है। हमारी इच्छा हुई कि हम बीस लाख रुपये किसी को दान कर दें। यदि उसी समय हमारी यह इच्छा पूरी हो

जाय, तो हम इसे ऐश्वर्य कहेंगे। यथेच्छ विषय-प्राप्ति का नाम ही ऐश्वर्य है। जिसकी इच्छा के अनुकूल फटापट काम हुआ, वही भाग्यशाली कहलाता है। एवं काम का जो प्रतिरोध है, उसी का नाम अनैश्वर्य्य है। इच्छा हुई, मोहन भोग खाएँ, मिलते नहीं सूखे टिक्कर भी, बस इसी का नाम मंदभागीपना है। यही अनैश्वर्य कहलाता है—"**विषयेषु आत्मनो याथाकाम्येन योग ऐश्वर्य्यम्। कामप्रतिरोधस्त्वनैश्वर्य्यम्।**"

बस, इस प्रकार विद्या-अविद्यात्मक विषय-संसर्ग से एक ही बुद्धि, एक ही विज्ञान ८ तरह का हो जाता है। ये ही सांख्य शास्त्राभिमत आठ बुद्धियां हैं। इनमें से चार से आत्मा का विद्याभाग उल्वण होता है, अतएव वे चार विद्या-बुद्धियां कहलाती हैं। वे चारों विद्याबुद्धियां धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य नाम से प्रसिद्ध हैं। अधर्म्म, अज्ञान, आसक्ति और अनैश्वर्य से आत्मा के अविद्या भाग की वृद्धि होती है, अतएव इन चारों को अविद्याबुद्धि कहा जाता है। धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य–ये चार विद्याबुद्धियां हैं एवं अधर्म्म, अज्ञान, आसक्ति और अनैश्वर्य्य—ये चारों, उन चारों विद्याबुद्धियों के विपर्य्यय कहलाते हैं। इन चारों को क्लेश कहा जाता है। जैसा कि भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः। पञ्चक्लेशाः॥ इति॥

द्वेषमोह का भी उपलक्षण समझना चाहिए। राग, द्वेष, मोह, तीनों एक चीज हैं। तीनों की समष्टि का नाम आसक्ति है। यह वैराग्य का विपर्य्यय है। वैराग्य से रागद्वेषापहार होता है। यही राजर्षिविद्या का विषय है एवं ज्ञान से अविद्यापहार होता है। अविद्या कहो, अज्ञान कहो, दोनों एक ही बात है। ऐश्वर्य्य का विपर्य्यय, अनैश्वर्य्य है। इसी का नाम अस्मिता है। बस, इस ऐश्वर्य्य से अस्मितापहार होता है एवं धर्म्म से अभिनिवेशापहार होता है। अभिनिवेश अधर्म्म दोनों एक वस्तु हैं। बस, इतना ही गीता का प्रतिपाद्य विषय है। सम्पूर्ण गीता में भगवान् ने बुद्धियोग का वर्णन किया है। बुद्धियां चार प्रकार की हैं, चार ही इनके विपर्य्यय हैं। इन चारों विद्या

बुद्धियों के भगवान् ने चार ही उपाय बताये हैं। वे चारों ही उपाय भगवद्विद्या अथवा राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या इन नामों से प्रसिद्ध हैं जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्फीत हो जाता है—

क्रम	गीताध्याय	विद्याः	बुद्धियोगाः	समत्वयोगाः	क्लेश-निवृत्तयः	आत्म-साक्षात्कार	अविद्या-बुद्धयः
१	६	भगवद्विद्या राजर्षि०	वैराग्यम्	अनासक्ति-कर्म्मिता	रागद्वेषा-पहारः	विद्याम-योऽव्ययः	आसक्ति
२	२	सिद्धविद्या	ज्ञानम्	यज्ञार्थकर्म्मिता	अविद्यापहारः	विद्याम-योऽव्ययः	अज्ञान
३	४	राजविद्या	ऐश्वर्य्यम्	ईश्वरार्पित-कर्म्मिता	अस्मिता-पहारः	विद्या म-योऽव्ययः	अनैश्वर्य्य
४	६	आर्षविद्या	धर्म्मः	ऐकात्म्यक-र्म्मिता	अभिनिवे-शापहारः	विद्याम-योऽव्ययः	अधर्म्म

सारे प्रपञ्च से, बुद्धि कुल आठ प्रकार की होती हैं, यह सिद्ध हो जाता है—"**ता एता अष्टौबुद्धयः सिद्धाः**"।

इन आठों में से अविद्योदय में हेतुभूत जो अधर्म्म, अज्ञान, राग-द्वेष, अनैश्वर्य विषय हैं, वे अवश्य ही प्राप्त हैं एवं अधिक मात्रा से प्राप्त हैं अतएव अविद्यापक्ष निसर्गतः प्रबल ही लोक में देखा गया है। तात्पर्य्य यही है कि अविद्या, अधर्म्मादि चारों विषय, जिनसे कि विद्याभाग अन्तर्हित रहता है, निसर्गतः प्राणी के उत्पन्न होने के साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं। इतना भी होता तब भी कोई बात नहीं थी। उत्पन्न होते हैं एवं अधिक मात्रा से उत्पन्न होते

हैं। ज्ञान के ज्ञान, विरुद्ध ज्ञान, अनियमित ज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान—ये तीन भेद होते हैं। जो ज्ञान बुद्धियोगमय है, जिससे कि प्रसाद होता है, आत्मा का आवरण हटता है, वही ज्ञान, ज्ञान नाम से व्यवहृत होता है। शास्त्रविरुद्ध ज्ञान अज्ञान है एवं शास्त्र के अनुसार कर्म्म करना परन्तु नियम से नहीं, एक दिन उसके आधार पर चलना, दूसरे दिन उस लाइन को छोड़ देना, मिथ्योपचार है। ऐसे ज्ञान से कुछ नहीं हो सकता है, 'स तु दीर्घकालान् नैरन्तर्य्य सत्कार्यसेवितो दृढ़भूमिः'–के अनुसार जब तक निरन्तर बुद्धियोग की उपासना नहीं की जाती तब तक ज्ञानोपासना झूंठी उपासना है। इसी प्रकार कर्म्म भी सुकर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म भेदेन तीन ही प्रकार का है। जिस कर्म्म से बन्धन टूटता है, उस बुद्धियोगमय कर्म्म को ही सुकर्म्म कहते हैं एवं जो कर्म्म दुःख उत्पन्न करता है, आत्मा को बन्धन में डालता है, वह अकर्म्म और विकर्म्म कहलाता है। कर्म्म नहीं करने का नाम अकर्म्म है। शास्त्रविरुद्ध कर्म्म करने का नाम विकर्म्म है, एवमेव अन्न का योग भी सुयोग, अतियोग, हीनयोग, मिथ्यायोग भेदेन चार प्रकार का है। शास्त्रविहित अन्नभुक्ति सुयोग है। मात्रा से अधिक भोग अति-योग है, कम भोग हीनयोग है। आहार स्वल्प है परन्तु है विष का, यही मिथ्या-योग है। इस प्रपञ्च से बतलाना हमें यही है कि आत्मा के विद्याभाग को उल्वण करने वाले, आनन्द पहुंचाने वाले, तो सुकर्म्म, ज्ञान, सुयोग–ये तीन ही हैं जबकि दुःख पहुंचाने वाले अविद्याभाग को उल्वण करने वाले अकर्म्म, विकर्म्म, अज्ञान, मिथ्याज्ञान, अतियोग, हीनयोग, मिथ्यायोग इत्यादि बहुत से पदार्थ हैं। सुख-सामग्री कम है, दुःख-सामग्री अधिक है। ज्यादा भाग अज्ञानादि कर्म्मों का ही रहता है, अतएव विद्याभाग दब जाता है। फलतः संसारी मनुष्य स्वभावतः दुःख से पीड़ित रहते हैं। अर्थात् दुःखी रहना, यह प्रकृति का साधारण नियम है। संसार में दुःख अधिक है, सुख अत्यल्प है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

तत्राविद्योदयहेतूनामधर्म्माज्ञानरागद्वेषानैश्वर्य्याणां विषयाणां नाप्त-त्वाद् (अवश्यं प्राप्तत्वात्) भूयस्त्वाच्चेदमविद्यापक्षप्राबल्यं निसर्गतः सिद्धं तावल्लोकेदृष्टम्। अविद्याधिक्याच्चेयं विद्याकनीयसी भवतीति दुःखेन पीड्यन्ते लोकाः।

इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेनमुह्यन्ति जन्तवः इति । (गीता ५।१५)

इस अज्ञान के विनाश का एकमात्र उपाय है बुद्धियोग। विनाश हमने भूल से कह दिया है। अविद्या का विनाश तो हो ही नहीं सकता। जैसे विद्या आत्मा का स्वरूप है, तथैव अविद्या भी आत्मा का स्वरूप है। ऐसी अवस्था में अविद्या का नाश बतलाना, आत्मा का नाश बतलाना है। विनाश का अर्थ है समीभाव। अविद्याभाग जब उल्वण हो जाता है, अधिक हो जाता है, तो ज्ञान का पलड़ा नीचा हो जाता है। इसी का नाम है विषमता। विषमता ही से क्षोभ होता है। क्षोभ ही का नाम दुःख है। विद्योदय से, बुद्धियोग से, केवल अविद्या की प्रबलता को हटाया जाता है। अविद्या का पलड़ा समता पर लाया जाता है। बस, बढ़े हुए अविद्याभाग को जहाँ दूर किया कि समत्व उत्पन्न हुआ। समत्व हुआ कि विषमता हटी। विषमता के हटते ही क्षोभ का नाश हो जाता है। दुःख का मूल क्षोभ जब समत्वयोग के कारण एकान्ततः अस्त हो जाता है तो फिर दुःख का कहां पता लग सकता है।

विद्योदयविशेषात्त्विदमविद्याप्राबल्यं निराक्रियते समत्वं चोपपाद्यते ।

बस, ज्ञानकर्म्म में विद्या-अविद्या में समभाव से प्रवर्त्तमान जो पुरुष है, वह ईश्वर हो जाता है क्योंकि ईश्वर दोनों में प्रवर्त्तमान है। ईश्वर में जितना ही भाग विद्या का है, उतना ही अविद्या का है। दोनों भाव समान रूप से रहते हैं। अतएव ईश्वर स्थिर कहलाता है। समता में ही स्थिरता है। समत्व का नाम ही प्रतिष्ठातत्त्व है। इसीलिए ईश्वर का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

तस्मात्परंनापरमस्ति किञ्चित् तस्मान्नाणीयोनज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इवस्तब्धोदिवितिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णम् पुरुषेण सर्वम् । (श्वे० उ० ३।९)

'वृक्षइवस्तब्धः' यह समत्व योग को लक्ष्य में लेकर ही कहा है। यदि ईश्वर में विद्या-अविद्या दोनों में से एक भाग उल्वण होता, दोनों में कमी

ज्यादा होती तो उसी समय क्षोभ उत्पन्न हो जाता। विचाली भाव का नाम ही तो क्षोभ है। अतएव मानना पड़ता है कि उस अव्ययेश्वर में विद्या-अविद्या दोनों समान भाव से विद्यमान हैं। अविद्या ईश्वर में कैसे रहती है, कहीं ऐसे-ऐसे प्रश्नों के चक्र में मत पड़ जाना। अविद्या अवश्य ही ईश्वर में हैं। अविद्या का नाम ही तो कर्म्म है। यदि यह कर्म्म उसमें न होता तो उससे सृष्टि-निर्म्माण कभी नहीं हो सकता था। सृष्टि-निर्माण जब कर्म्म से होता है तो विद्यावत् ज्ञानवत् ईश्वर में कर्म्म भी अवश्य ही मानना पड़ता है। उस ईश्वर की ईश्वरता इसी में हैं कि वह खूब कर्म्म करता है परन्तु प्रतिष्ठा से नहीं हटता। हटे कैसे, जबकि उसमें विद्या और अविद्या समान भाव से है। जाने दो ईश्वर को, हम तो यहां तक कहने के लिए तैयार हैं कि जिस दिन ज्ञान-कर्म्म में, विद्या-अविद्या में मनुष्य समता प्राप्त कर लेगा, समत्वयोग को प्राप्त हो जाएगा, उस दिन एक अदना-सा मनुष्य भी ईश्वर हो जाएगा। उसी का तो यह अंश है। जरा सा आवरण आ गया है, उसे हटा दो; वही तो यह है। इसीलिए अव्ययेश्वर भगवान् अपने मुँह से स्वयं कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः—ऐसी अवस्था में हम अवश्य ही ईश्वर बन सकते हैं। बन नहीं सकते, आवरण को तोड़ कर, बुद्धियोग द्वारा बढ़े हुए अविद्या भाग को समता में प्रवृत्त कर, अपने स्वरूप में, ईश्वर स्वरूप में परिणत हो सकते हैं। जिसमें विद्या-अविद्या दोनों समान हो, जो समत्व योग का अधिष्ठाता हो, वही ईश्वर का लक्षण है। फिर समत्वयोग सिद्ध कर मनुष्य क्यों नहीं ईश्वर बन सकता ? अवश्य बन सकता है, अवश्य ही बन सकता है—

ज्ञनकर्म्मणोर्विद्याऽविद्ययोः समे प्रवर्त्तमानो मनुष्य ईश्वरो भवति। ईश्वरस्य निसर्गतस्तयोः समं प्रवर्त्तमानत्वात्। अतएव—

"**नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि**" यह कहते हुए भगवान् श्रीकृष्ण वासुदेव मनुष्य के पुत्र होते हुए भी विद्या और अविद्या-दोनों से समभावेन कार्य करते हुए, ईश्वर भी हैं और मनुष्य भी हैं। जो कर्म्म-

अकर्म्म दोनों में समान हैं, उसको हम अवश्य ही ईश्वर कहने के लिए तैयार हैं। भगवान् कृष्ण वास्तव में ऐसे ही थे। कोशिश से उन्हें समत्वयोग प्राप्त नहीं हुआ था अपितु जन्मना ही उनमें ये बातें विद्यमान थीं। अतएव आपके कहे अनुसार हम थोड़ी देर के लिए उन्हें मनुष्य कहते हुए भी ईश्वर कहने के लिए तैयार हैं। हम ही तैयार नहीं हैं, सारे विश्व को उसी समत्व योग के अनुसार कृष्ण को ईश्वर मानना पड़ेगा। आज तक बहुत अवतार हुए परन्तु किसी में समत्वयोग सिद्ध सर्वात्मता नहीं थी। किसी में ज्ञानमात्रा अधिक थी, किसी में सत्तामात्रा अधिक थी। परन्तु यहां तो सत्ता, चेतना, आनन्द तीनों ही मौजूद थे। श्रीकृष्ण तो साक्षात् सच्चिदानन्द थे। छः महीने की अवस्था में आपने पूतना-वध किया, अल्प अवस्था ही में कंसादि महाअसुरों का, खेलते-हँसते हुए संहार कर डाला। क्या इतने पर भी उन्हें सत्ताशाली, बलशाली नहीं कहा जा सकता? ज्ञान की ओर चलिए। ज्ञान के विषय में, चेतना के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। लीलाधर ने एक ही ज्ञान की झलक से संसार को विमोहित कर दिया। गीता का आदर आज कौन नहीं करता? ईसाई, आर्य्यसमाजी, सनातनधर्म्मी, कौन गीता को आदर की दृष्टि से नहीं देखता? गीता की एक नहीं, सहस्रों टीकाएं बन चुकी, परन्तु अभी तक इस ज्ञान-समुद्र के अन्तस्तल की खबर कोई न लाया। क्या गीता से अधिक ज्ञान का भण्डार दूसरा और कोई ग्रन्थ है? आनन्द की ओर चलिए। इस वंशीधर ने अपने ऊपर घोर से घोर आपत्तियाँ आने पर भी वंशी की तान से मुख नहीं मोड़ा। सारे कौरव-दल का नाश हो गया है। कुन्ती, द्रौपदी, उत्तरा आदि स्त्रियाँ अपने पति-पुत्रादि की लाशों से चिपट-चिपट कर करुण क्रन्दन कर रही हैं, उस समय भी लीलाधर कुन्ती को हँसते हुए, वंशी बजाते हुए, आश्वासन दे रहे हैं। क्या इससे अधिक आनन्द की मात्रा और कहीं मिल सकती है? इसलिए एक बार नहीं, सौ बार नहीं, लाखों बार हम भगवान् वेद-व्यास के '**कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**' वाक्य का घण्टाघोष करने में नहीं हिचक सकते, श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं, सच्चिदानन्द भगवान् हैं। इसका एकमात्र कारण यही समत्वयोग है, जिसका उपदेश भगवान् ने गीता में दिया है—

अतएव नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्तएव च कर्म्मणि। इति प्रतिजानानोऽयं भगवान् कृष्णोवासुदेवो विद्यया अविद्या च प्रवर्त्तमानः सन्नीश्वरश्च भवति मनुष्यश्च।

भगवान् कृष्ण ईश्वर हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं करना चाहिए। वास्तव में भगवान् श्रीकृष्ण मानव रूप में ईश्वर थे, क्योंकि उनमें विद्या और अविद्या, दोनों भाग समान थे। कृष्ण ही ईश्वर नहीं थे अपितु संसार के यच्चयावत् प्राणीमात्र ईश्वर हैं। ब्रह्मैवेदंसर्वम्, सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादि श्रुतियाँ विश्वमात्र को ब्रह्म बतलाती हैं। वास्तव में सब ब्रह्म ही है। विश्व ही तो उस ब्रह्म का स्वरूप है। विश्वात्मा भगवान् का विश्व ही तो शरीर है। विश्व भी सच्चिदानन्द है, सच्चिदानन्द है विश्वात्मा भी। सच्चिदानन्द पूर्णेश्वर भगवान् के अलावा और है ही क्या ? सर्वत्र वही पूर्ण ब्रह्म रश्मि रूप से सर्वत्र व्याप हो रहा है। अतएव मानना पड़ता है कि जीवमात्र ईश्वर है। जीव और ईश्वर इस भेद का एक मात्र कारण है कर्म्मावरण। जिस प्रकार दीपक को घट में बन्द कर देने से उसका प्रकाश अन्तर्हित हो जाता है, तथैव चिदात्मा अव्ययेश्वर पर जब कर्म्म का पुद्गल चढ़ जाता है तो विद्याभाग तिरोहित हो जाता है एवं अविद्याभाग उल्वण हो जाता है। विद्या पर अविद्या इतनी अधिक मात्रा में चढ़ जाती है कि विद्या का अभाव सा प्रतीत होने लग जाता है। बस, जिसमें अविद्या भाग उल्वण हो जाता है एवं विद्या भाग तिरोहित हो जाता है, वही जीव शब्देन व्यवहृत होने लगता है एवं जिसमें विद्या-अविद्या भाग समान होता है, वह ईश्वर शब्द से व्यवहृत होता है। आप बढ़े हुए अविद्या भाग को नष्ट कर, समत्वयोग द्वारा ब्रह्म को पहचान जाइए, आप स्वयं ब्रह्म बन जाएँगे। बन नहीं जाएँगे, ब्रह्म तो आप हैं ही हैं, केवल आवरण को तोड़ देने की आवश्यकता है। जहाँ उस ब्रह्म को पहचाना कि सारे आवरण दूर, एवं आप स्वयं ब्रह्म बन गए। आवरण तोड़ने के उपाय का नाम ही है बुद्धियोग। अनासक्तिपूर्वक कर्म्म करते जाइए। एक दिन ऐसा आएगा जिस दिन बढ़ा हुआ अविद्याभाग सम हो जाएगा। उसी दिन आप अपने प्रातिस्विक ब्रह्मभाव में परिणत हो जाएँगे। श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परात्परे ।।
(मु० उ० २।२।८)

जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता । भला, मनुष्य भी कभी ईश्वर बन सकता है ? वह तो निराकार है । उसके भी कही हाथ-पैर हुए हैं ? वेद में कहीं भी ईश्वर की साकारता का वर्णन नहीं है । वेद में हजारों जगह— **अपाणिपादो जवनोग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः** तथा—

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।
(गीता १३।१३)

ऐसे–ऐसे मंत्रों द्वारा ईश्वर का निराकारत्व ही सिद्ध किया है । ऐसी अवस्था में एक मनुष्य कृष्ण को, वसुदेव के पुत्र कृष्ण को, ईश्वर मान बैठना वेद–विरुद्ध है, पोपलीला है । ईश्वर का अवतार बन ही नहीं सकता । इस प्रकार अवतारवाद से अनभिज्ञ लोग आक्षेप किया करते हैं । साधारण मनुष्य, जिन्हें कि वेद के कभी स्वप्न में भी दर्शन नहीं हुए हैं, मान बैठते हैं कि हाँ वास्तव में महाशय जी ठीक कहते हैं देखो तो, वेद का परमान (प्रमाण) भी दे रहे हैं । इस अन्धकार के लिए "**यादृशी शीतला देवी तादृशो वाहनः खरः**" के सिवाय हम और कुछ नहीं कह सकते । वेद का नाम लेकर सत्पथ पर चलने वाले मनुष्यों को भ्रान्त करने वाली उस महाशय पार्टी से हम पूछते हैं–आपने वेद के दर्शन भी किये हैं, या नहीं ? हमारा तो खयाल है कि यदि द्वेष–बुद्धि से भी आप एक बार भी वेद पर दृष्टि डाल लेते तो ऐसी–ऐसी बहकी बातें न करते । परन्तु आपका विश्वास तो ट्रैक्टों पर है । जन्म भर विदेशी भाषा पढ़ने वाले धर्म्म-विरोधियों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए यदि झूठा–सच्चा कोई ट्रैक्ट छपवा दिया तो बस वही आपके लिए प्रमाण हो गया । अस्तु, अवतार हो सकता है या नहीं, इसका विस्तृत विवेचन हम आगे के प्रकरणों में करेंगे । आप ठाली न बैठे रहें इसके लिए आपके जिम्मे दो चार प्रश्नों को उठा कर हम प्रकृत का अनुसरण करते हैं—

"**प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः**", " **स गर्भो अभवत्**, "**ब्रह्मं वेदंसर्वम्**", "**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**"—इत्यादि वाक्य श्रुति के हैं अथवा और किसी के ? यदि

श्रुति के हैं, तो फिर इन पर विचार कर, इनके विषय में अपनी सम्मति दीजिए। अस्तु, हम कह रहे थे कि विद्या और अविद्या दोनों में समभाव से प्रवर्त्तमान, दोनों में समान भाव रखने वाले वासुदेव कृष्ण, मनुष्य होते हुए भी ईश्वर हैं। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"—इस श्रुति प्रमाण से, ब्रह्मविद्या के प्रभाव से श्रीकृष्ण वास्तव में ईश्वर ही थे, यह बात प्रकृत में मान ली जाती है। जो ब्रह्म को पहचान जाता है, वह स्वयं ब्रह्म बन जाता है, यही 'ब्रह्मविद्-ब्रह्मैव भवति'—इस श्रुति का तात्पर्य है। ब्रह्म से विद्याविद्यात्मक अव्यय पुरुष ही अभिप्रेत है। श्रीकृष्ण मनुष्य थे परन्तु उन्होंने इस अव्यय को पहचाना, कोशिश से नहीं पहचाना अपितु जन्म से उसी स्वरूप में प्रकट हुए। अतएव कृष्ण को अवश्य ही हम ईश्वर कहने के लिए तैयार हैं—

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति श्रुत्या ब्रह्मविद्याप्रभावात् तस्येश्वरत्व-प्रतिपत्तेः स्थाने प्राप्तत्वात्।

जिस प्रकार विद्या–अविद्या के समत्व के कारण भगवान् श्रीकृष्ण ईश्वर कहलाए एवं वास्तव में ईश्वर बन गये थे, तथैव यदि अन्य अस्मदादि सामान्य मनुष्य समत्व की इच्छा करता है, तो उसे आत्मा में विद्यमान जो ज्ञान कर्म्म है, विद्या-अविद्या है, उनकी समत्व-सिद्धि के लिए, बढ़े हुए अविद्या के आवरण को दूर करने के लिए, अविद्या को उल्वण करने वाले जो अधर्म्म, अज्ञान, रागद्वेषास्मितादि रूप कर्म्म हैं, उन्हें सर्वथा छोड़ देना चाहिए एवं विद्या भाग को उल्वण करने वाले धर्म्म, ज्ञान वैराग्य, ऐश्वर्य्य—इन चारों भावों को बढ़ाना चाहिए। यही भगवान् का आदेश है। भगवान् ने अव्यय को पहचान कर ईश्वर भाव को प्राप्त किया था। वे अव्यय को पहचानते थे। अतएव उन्होंने गीता में इसी अव्यय का उपदेश दिया है। भगवान् कहते हैं कि यदि तुम ईश्वर बनना चाहते हो तो धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य—इन विद्योपधिक चार बुद्धियों को अपनाओ और अधर्म्म, अज्ञान, राग-द्वेष, अस्मितारूपा चार बुद्धियों को, जो कि अविद्याभाग को उल्वण करने वाली हैं, छोड़ने की कोशिश करो। जिस दिन अविद्या का आवरण हट जाएगा उस दिन तुम ईश्वर बन जाओगे। बस, भगवान् ने गीता में ईश्वर बनने का

ही उपाय बतलाया है। इसी का नाम है बुद्धियोग। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

एवमेवान्येनापि मनुष्येण ईश्वरसाम्यं कामयमानेन आत्मनि ज्ञानकर्म्मणोर्विद्याविद्ययोः समत्वोपपत्त्यर्थमविद्योदयौपयिका भावा अधर्म्माज्ञान रागद्वेषास्मितारूपा निवर्त्तयितव्याः। विद्योदयौपयिकास्तु धर्म्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्यलक्षणा भावा प्रवर्द्धयितव्या इत्यादेशः।

आत्मा के अविद्या और विद्या दो विभाग हैं। दोनों की समष्टि का नाम "आत्मा" है। इसमें अविद्या बुद्धि कृष्णस्वरूप है, तमोगुण का नाम अविद्या है। अविद्या का स्वरूप काला है। ठीक इसके विपरीत विद्या-बुद्धि शुक्लरूपा है। सत्त्वगुण का नाम विद्याबुद्धि है, इसी का नाम प्रकाश है। विद्या प्रकाश है, अविद्या अन्धकार है। विद्या शुक्ल है, अविद्या कृष्ण है। विद्या राधा है, अविद्या कृष्ण है। अविद्या कृष्ण की आत्मा विद्या है अर्थात् राधा है। बिना राधा के कृष्ण कभी नहीं रह सकते। बस, विद्या–बुद्धि के निरूपण का नाम ही गीताशास्त्र है। भगवान् ने गीता में अपने हृदय का धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य स्वरूपा विद्या बुद्धि का–राधा का ही–स्वरूप बतलाया है। यही शुक्ल रूप, भगवान् श्रीकृष्ण का हृदय है। विद्या ही अविद्या का हृदय है। विद्या नाम है ज्ञान का, अविद्या नाम है कर्म्म का। ज्ञान को ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म ही कर्म्म का आलम्बन है। बिना ब्रह्म के कर्म्म रह ही नहीं सकता। राधा–कृष्ण दोनों सदा साथ रहते हैं। कभी भी इनका वियोग नहीं होता। कृष्ण-स्वरूप सबको दिखलाई पड़ता है, आत्मा को कोई नहीं पहचानता। भगवान् श्रीकृष्ण काले हैं। इनका आत्मा विद्यामय है, वही अन्वेष्टव्य है। उसे ही ढूंढना चाहिए। उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए। उसी का ध्यान करना चाहिए। उसी की उपासना करनी चाहिए—

तत्रयमविद्याबुद्धिः कृष्णंरूपम्। विद्याबुद्धिः शुक्लंरूपम्। विद्याबुद्धि निरूपणमेवचेदं गीताशास्त्रम्। एतदेवशुक्लं विद्यारूपं भगवतः श्रीकृष्णस्य

हृदयम् । स आत्मा । सोऽन्वेष्टव्यः । सविजिज्ञासितव्यः । सोऽनुध्यातव्यः । स उपासितव्यः ।

आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्–अव्यय की ये पांच कलाएं हैं, जिनका कि विस्तृत विवेचन पूर्व प्रकरणों में कर दिया गया है। इनमें आनन्द विज्ञान, मन, मुक्तिसाक्षी हैं। मन, प्राण, वाक्, सृष्टिसाक्षी हैं।मन-प्राण-वाक् से संसार के यच्चयावत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। मन के व्यापार का नाम है इच्छा। प्राण-व्यापार का नाम है इच्छानुकूल यत्न, जिसे कि कोशिश कहते हैं एवं वाक्-व्यापार का नाम है श्रम। हाथ-पैर हिलाना ही श्रम कहलाता है। बस, इच्छा, तप, श्रम–इन तीन ही से संसार के यच्चयावत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इनके मूल आधार मन-प्राण–वाक् ही हैं। अतएव हम मन-प्राण-वाक् को ही सृष्टि निर्म्माता अव्यय कहेंगे। आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाङ्मय अव्ययपुरुष के कर्म्म ज्ञानरूप हैं। मन-प्राण-वाक् अव्यय का-कर्म्मरूप-है; आनन्द-विज्ञान-मन अव्यय का ज्ञानरूप है। इसमें सृष्टि मन–प्राण–वाङ्मय कर्म्मरूप से ही होती है। इस कर्म्मरूप से, सबसे पहले, संसार को पैदा करने वाले, आगे की सृष्टियां उत्पन्न करने वाले अग्नि और सोम—ये दो विश्वसृट्तत्त्व पैदा होते हैं। सम्पूर्ण क्षर सृष्टियों में पहले-पहल अग्नि और सोम का ही जन्म होता है। भगवान् स्वयम्भू अपने कर्म्मशुक्र से पहले-पहल अग्नि और सोम–ये दो ही तत्त्व उत्पन्न करते हैं। अग्नि और सोम से ही देव, मनुष्यादि सारी सृष्टियां उत्पन्न होती हैं। अतएव इनको हम **"विश्वसृट्"** कहने के लिए तैयार हैं। अग्निमण्डल का नाम ही सूर्य्य है, सोममण्डल का नाम ही परमेष्ठी है। स्वयम्भू से सर्वप्रथम परमेष्ठीमण्डल और सूर्य्यमण्डल—ये दो ही उत्पन्न होते हैं। सूर्य्य का नाम अग्नि और परमेष्ठी का नाम सोम है। बस, इस अग्नि-सोम से ही सारे भूत-जातों का निर्म्माण होता है। इसीलिए **"अग्नीषोमात्मकंजगत्"**—यह कहा जाता है। वास्तव में बात ठीक है। सर्दी और गर्मी के अलावा और है ही क्या? सर्दी का नाम सोम है, गर्मी का नाम अग्नि है। दो ही तो इस भौतिक जगत् के मूल हैं। इसी अभिप्राय से भाष्यकार कहते हैं—

अथ यदेवैतस्याव्ययस्य मनःप्राणवाङ्मयं कर्म्मरूपम्। तेन शुक्रेण द्वौ विश्वसृजौ प्रादुर्भवतः–अग्निश्च सोमश्च। सर्वाणीमानि भूतजातानि अग्नीषोमीयाणि भवन्ति।

अग्नि और सोम—दो ही तत्त्व सृष्टि के निर्म्माता हैं। इनमें अग्नि, घन–तरल–विरल भेद से तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। अग्नि की घनावस्था का नाम अग्नि है। यह पृथ्वीलोक का अधिष्ठाता है। तरलावस्था का नाम वायु है। यह अन्तरिक्ष लोक का अधिष्ठाता है। विरलावस्था अर्थात् प्राणावस्था का नाम आदित्य है। इसे ही इन्द्र कहते हैं। सूर्य्य में रहने वाले एक अन्यतम प्राण का नाम ही इन्द्र है। इसी अभिप्राय से यास्कमुनि कहते हैं–

अग्निर्भूस्थाने वायुर्वेन्द्रोऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो (इन्द्रो) द्युःस्थान। इति।
अस्तु, कहना हमें यही है कि एक ही अग्नि, अग्नि–वायु–इन्द्र तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। ये तीनों अङ्गिरा नाम से व्यवहृत होते हैं। अग्नि, वायु, इन्द्र तीनों अङ्गिरा हैं एवं वह सोम भी अवस्था भेद से दित्य और वारुण इन दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। दिति और वरुण दोनों ही भृगु कहलाते हैं। ये दोनों ही सोम हैं। जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र को अङ्गिरा कहते हैं, सोम को भृगु कहते हैं। भृगु और अङ्गिरा–यही दो, सारे विश्व के संचालक हैं। ये पाँचों ही यच्चयावत् भूतजातों में अनुस्यूत रहते हैं। जिसमें भृगु–अङ्गिरा नहीं, उस पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। अग्नि–सोम ही से पदार्थ–सत्ता रहती है—

तेषुचैतेषु भूतजातेष्वनुस्यूता अग्निर्वायुरिन्द्र इतित्रयोऽङ्गिरसः खल्वग्निरूपाणि। दित्योवरुणश्चेतिद्वौ भृगुसोमरूपे।

अग्नि, वायु, इन्द्र, दिक्, वरुण इन पाँचों देवताओं में जो आग्नेय है, वह शुक्ल स्वरूप है। अग्नि, वायु, इन्द्र तीनों आग्नेय हैं, तीनों ही शुक्ल हैं एवं जितना सौम्य भाग है, वही वरुण है। अग्नि का वर्ण शुक्ल है, सोम का वर्ण कृष्ण है।

भगवान् श्रीकृष्ण इसी सोमवंश के हैं। भगवान् सोमवंश में उत्पन्न हुए हैं। सोम चूंकि काला है, इसीलिए तो यह काले हैं। बस, सोमवंश में उत्पन्न इसी कृष्ण का ध्यान करना चाहिए, इसी की उपासना करनी चाहिए। यही सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यही अव्यय ब्रह्म सबकी प्रतिष्ठा है, प्रतिष्ठा अव्यय ब्रह्म का पहला अवतार है—

तेष्वेतेषु पञ्चानुदेवता भेदेषु यावदाग्नेयं तच्छुक्लम्, यावत्सौम्यं तत् कृष्णम्। सोऽयं सोमवंश्यः कृष्णो द्रष्टव्यः। सोऽनुध्यातव्यः, उपासितव्यः।

इति गीताविज्ञानभाष्य–आचार्य–रहस्यान्तर्गत
।। प्रतिष्ठाकृष्णरहस्यं समाप्तम् ।।

———